A CRITICAL EXAMINATION OF REFUTATION OF SHANKARACHARYA'S DOCTRINE OF MAYA IN CONTEMPORARY INDIAN PHILOSOPHY

[समकालीन भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के मायावाद के खण्डन की आलोचनात्मक परीक्षा]

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

●

निर्देशक
प्रो० संगमलाल पाण्डेय
रीडर, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

●

प्रस्तुत कर्त्ता
नरेन्द्र सिंह, एम० ए०

●

दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१ ९ ७ ८


মানুষ

आमुख

सत् को समझने के लिए असत् को जानना आवश्यक है और इसी प्रकार ज्ञान को समझने के लिए अज्ञान को समझना अनिवार्य है। असत् और अज्ञान दोनों का मिलनबिन्दु भारतीय दर्शन में माया है। अत: सत् और ज्ञान दोनों का विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए मायावाद को समझना नितान्त आवश्यक है। मायावाद दर्शनशास्त्र की एक प्रमुख समस्या है। अद्वैत-वेदान्त का तो यह सारसर्वस्व ही है।

किन्तु आधुनिक युग में अनेक भारतीय दार्शनिक मायावाद के स्थान पर वास्तववाद या प्रकृतिवाद प्रस्तावित कर रहे हैं और समझते हैं कि मायावाद एक गलत सिद्धान्त है। मायावाद के इन खण्डनों का अध्ययन करना और उनकी सत्यता की परीक्षा करना प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है। मुझे आज भी मायावाद एक सत् सिद्धान्त प्रतीत होता है। यहाँ मैंने मायावाद के उन सभी खण्डनों का दार्शनिक विवेचन किया है जो विगत एक सौ वर्ष से उठाये जा रहे हैं और सिद्ध किया है कि मायावाद को इन खण्डनों से कोई क्षति नहीं हुई है क्योंकि इन खण्डनों का निराकरण मायावाद के समर्थन के सन्दर्भ में भी पहले किये जा चुके थे और आज भी किये जा रहे हैं। इसके प्रतिपादन में मुझे कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय पाठक स्वयं करेंगे। मुझे इस बात से सन्तोष है कि मेरी जो निष्ठा मायावाद में थी, वह इसके खण्डनों के बावजूद भी बनी है। अपनी समझ से मैंने यहाँ मायावाद का सही प्रतिपादन करने का प्रयास किया है जिससे भविष्य में जो लोग इसका खण्डन करना चाहें, वे अर्थान्तर कल्पना का दोष न कर सकें।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध श्रद्धेय गुरुवर प्रो० संगमलाल पाण्डेय, रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, के प्रेरक निर्देशन

में लिखा गया है । उन्हीं के निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन की छाया में बैठकर दर्शन-शास्त्र की जटिल ग्रन्थियों को सुलझाया गया है । पदे-पदे उनके स्नेहपूर्ण सद्भाव एवं विचक्षणता से मुझे निरन्तर नवीन प्रेरणायें प्राप्त होती रहीं । उनके उपकारों का प्रतिदान शब्दों से असम्भव है । इस शोध-प्रबन्ध में जो कुछ भी अच्छाइयां हैं उसके लिए वे ही धन्यवाद के पात्र हैं तथा जो त्रुटियां हैं उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूं ।

मैं पूज्य गुरुवर प्रो० एस० एस० राय, एम०ए०,डी० लिट्, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद का ऋणी हूं । इस शोध-प्रबन्ध के संपादन में उनसे प्रचुर सहायता प्राप्त हुई । शोध-प्रबन्ध की अनेक समस्याओं के समाधान में मैंने उनकी मर्मज्ञता का लाभ उठाया है । उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं उनकी महानता को कम नहीं करना चाहता क्योंकि मुझपर उनका नैसर्गिक स्नेह है ।

अग्रज तुल्य श्री अमर सिंह, एम० ए०, प्रवक्ता अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, डा० देवकीनन्दन द्विवेदी,एम०ए०,डी० फिल्, प्रवक्ता, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद एवं डा० रामलाल सिंह, एम०ए०, डी० फिल्, प्रवक्ता, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद का भी मैं हृदय से आभारी हूं जिनसे मुझे सदैव प्रेममय प्रोत्साहन एवं परामर्श प्राप्त हुआ । उन्हें धन्यवाद देने की औपचारिकता का निर्वाह न तो उचित ही है और न अपेक्षित ही है क्योंकि उनका मेरे प्रति अनुज-तुल्य स्नेह रहा है ।

विशिष्टाद्वैत के प्रख्यात आचार्य डॉ० एस० रंगनाथन, एम०ए० एम० ओ० एल०, तमिल-प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद से मुझे आचार्य तातार्य और वीरराघवाचार्य के ग्रन्थों को समझने

में और उनके विषय में यहां लिखने में अपूर्व साहाय्य प्राप्त हुआ है । उनकी एतद्-विषयक सहायता के बिना यह शोध-प्रबन्ध सरलता से पूर्ण न हो पाता । उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूं । निश्चय ही वे मेरे एक गुरु हैं ।

इस धन्यवाद-कृत्य के अवसर पर मैं अपने ज्येष्ठभ्राता डा० ब्रजेन्द्र सिंह एम० ए०, डी० फिल्; आई० ए० एस०, भूतपूर्व प्रवक्ता, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, का भी स्मरण करता हूं जिनको मैंने बचपन से ही अपना आदर्श मान रखा है । उनकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही मैंने दर्शनशास्त्र में एम० ए० किया और तदुपरान्त शोध कार्य में संलग्न हुआ । उनके प्रोत्साहन का ही फल है कि शोधकार्य पूर्ण हो गया । इस प्रसंग में अपने वृद्ध पिता श्री भानुप्रताप सिंह, एडवोकेट, फैजाबाद को भी श्रद्धापूर्वक स्मरण और नमन करता हूं जिन्होंने अपने वार्धक्य और परिश्रम का ध्यान न करते हुए भी मुझ-जैसे अभागे युवक-पुत्र का पालन-पोषण उसी प्रकार करते आये हैं जैसे कोई अपने शिशु-पुत्र का पालन करता है । वे मेरे पिता ही नहीं वरन् भगवान् हैं जिनकी कृपा के बिना मैं इस शोधकार्य को कथमपि पूरा नहीं कर सकता था । इसकी पूर्णाहुति ही शायद उनके प्रति मेरी तुच्छ श्रद्धांजलि है ।

अन्त में, मैं उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं जिनकी रचनाओं से मैंने लाभ उठाया है और उन सभी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध के सम्पादन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरी सहायता की है । मायावाद जैसे अगाध विषय की

गवेषणा में जिज्ञासुओं को प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यदि थोड़ा भी तथ्य मिल सके, तो मैं निश्चय ही अपने परिश्रम को सार्थक समझूंगा ।

नरेन्द्र सिंह
(नरेन्द्र सिंह)
दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

इलाहाबाद
१९७८

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

-o-

विषय-प्रवेश

प्रथम अध्याय

-0-

विषय-प्रवेश

मायावाद अद्वैतवेदान्त का एक मूलभूत सिद्धान्त है । इसका महत्व इसी से जाना जा सकता है कि इसके बिना अद्वैत-दर्शन का प्रतिपादन करना असम्भव है । यही कारण है कि मायावाद के पूर्व भारतीय दर्शन में अद्वैत-दर्शन की विचारधारा निष्पन्न न हो सकी । शंकराचार्य ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा से एक तर्कसम्मत सिद्धान्त के रूप में मायावाद को स्थापित किया । वेदों, उपनिषदों एवं भगवद्गीता में यत्र-तत्र `माया` शब्द का प्रयोग मिलता है । परन्तु वहां इसका प्रयोग इन्द्रजाल, सृजन-शक्ति, भ्रम, रहस्यात्मिका शक्ति के रूप में किया गया है । `माया` शब्द के इन विभिन्न प्रयोगों को एक सूत्र में ग्रथित कर उन्हें एक प्रामाणिक सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने का श्रेय शंकराचार्य को है । परन्तु जब से मायावाद का प्रस्ताव किया गया तभी से अधिकांश विद्वान् दार्शनिकों ने मायावाद के खण्डन को अपने चिंतन का मुख्य विषय बनाया । शंकराचार्य के पश्चात भास्कर, रामानुज,मध्व तथा उनके अनुयायियों ने बड़े जोर-शोर से मायावाद का खण्डन किया जिसका प्रतिवाद शंकराचार्य के अनुयायियों ने भी बड़े तार्किक ढंग से किया । इस प्रकार संस्कृत में मायावाद के पक्ष और विपक्ष में विपुल साहित्य तैयार हो गया और इस खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया के कारण मायावाद सम्पूर्ण भारतीय जन-जीवन में प्रविष्ट हो गया है । अत: प्राय: प्रत्येक भारतीय जगत् की प्रत्येक वस्तु को अथवा उपलब्धि को माया कह देता है । इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मायावाद जितना प्रचलित सिद्धान्त है उतना कोई अन्य दार्शनिक सिद्धान्त नहीं ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हम मायावाद का ऐतिहासिक विवेचन नहीं प्रस्तुत करेंगे । मुख्यतः हमारा विषय मायावाद का आधुनिक युग में किया गया खण्डन है । आधुनिक युग को परिभाषित करने के लिए हम अपने अध्ययन में आधुनिक युग को उस समय से मानेंगे जब से हिन्दी तथा अंग्रेजी के माध्यम से मायावाद का खण्डन या समर्थन किया जाने लगा । मोटे तौर से १८८५ ई० के आस-पास हिन्दी के माध्यम से सर्व प्रथम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मायावाद का खण्डन किया और अद्वैतवेदान्तियों ने मायावाद का समर्थन किया। इसी प्रकार २० वीं शताब्दी के द्वितीय एवं तृतीय दशक में अंग्रेजी के माध्यम से श्री अरविन्द ने मायावाद का खण्डन किया और उस खण्डन का निराकरण प्रो० घनश्यामदास रतनमल मलकानी जैसे अद्वैतवेदान्तियों ने किया । तत्पश्चात अनेक आधुनिक मनीषियों ने पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान से प्रभावित होकर मायावाद का खण्डन किया और इसी प्रकार कुछ दार्शनिकों ने मायावाद का समर्थन किया । पुनश्च, संस्कृत के माध्यम से चिन्तन करने वाले दार्शनिकगण भी इस खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया से उदासीन नहीं रहे । उनमें भी मायावाद के समर्थन और खण्डन में पुनः विवाद उठ खड़ा हुआ । इस प्रसंग में महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने वेदान्तदेशिक कृत शतदूषणी के प्रतिवाद में शतभूषणी नामक ग्रन्थ लिखा और इस ग्रन्थ के खण्डन में विशिष्टाद्वैतवादी अभिनवदेशिक उत्तमूरवीर राघवाचार्य ने परमार्थभूषणम् नामक ग्रन्थ की रचना की । इस प्रकार आधुनिक युग में संस्कृत में भी मायावाद को लेकर एक नया साहित्य तैयार हो गया ।

मायावाद की दार्शनिक परीक्षा करने के लिए हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत में उपलब्ध उपर्युक्त साहित्य का अनुशीलन अपेक्षित है । यहाँ पहले मायावाद का खण्डन करने वालों का तर्क प्रस्तुत किया जायेगा और तदुपरान्त उनके तर्क की आलोचनात्मक समीक्षा भी की जायेगी । पुनश्च, ऐसा करने के लिए जो विधि अपनायी जायेगी वह मायावाद के विरोधियों के शब्दों में अभिव्यक्त

युक्तियों का प्रतिपादन है और उनके खण्डन में उन्हीं लोगों का तर्क दिया जायेगा जिन्होंने उनके समय में ही मायावाद के ऊपर शास्त्रार्थ करते हुए इसका समर्थन किया है। यदि किसी विरोधी की युक्ति का खण्डन नहीं किया गया है तो उसके खण्डन का प्रयास इन पंक्तियों का लेखक स्वयं करेगा।

यह उल्लेखनीय है कि मायावाद का जितना खण्डन हुआ है उतना ही उसका समर्थन भी किया गया है। अतः यह कहना कि मायावाद एक गलत सिद्धान्त है अभी तक तर्कतः प्रमाणित नहीं किया जा सका है। वस्तुतः यह वाद भी एक खुला प्रश्न है। अनुभववाद का आधुनिक युग में विशेष प्रचार-प्रसार होने के कारण अधिकांश विचारक मायावाद के विरोध में संलग्न हुए हैं, हो रहे हैं। परन्तु अनुभववाद की भी सीमायें हैं जिसके अन्दर ही वह सप्रमाण कथन दे सकता है। प्रश्न है कि क्या मायावाद अनुभववाद की सीमा के अन्दर है? यदि नहीं, तो फिर अनुभववाद माया पर कुछ कहने में समर्थ नहीं है। वस्तुतः तर्कना की गति अपार है। वह बहुमुखी एवं बहुआयामी है। उसका प्रधान स्वर आलोचना है। अतः वह माया के पक्ष और विपक्ष दोनों पर इस समय भी कुछ निर्णय दे रही है। ऐसी स्थिति में मायावाद एक जीवित समस्या है।

अभी तक माया के जितने अर्थ किये गये हैं वे निम्नलिखित हैं — (१) इन्द्रजाल (जादू), (२) जादू करने की शक्ति, (३) छद्म, (४) कपट (अपछल), (५) धोखा, (६) धोखा, कपट और छद्म करने की शक्ति, (७) दंभ (पाखण्ड), (८) शठता, (९) भ्रम (illusion), (१०) विभ्रम (hallucination), (११) स्वप्न, (१२) असत्, (१३) मिथ्या (झूठ या असत्य), (१४) आभास (   ), (१५) छाया (प्रतिबिम्ब), (१६) ईश्वर की उपाधि, (१७) ईश्वर की शक्ति, (१८) लक्ष्मी (वैभव, धन), (१९) अघटन घटना घटिका शक्ति, (२०) प्रकृति, (२१) त्रिगुणात्मिक अव्यक्त या प्रधान, (२२) नामरूप, (२३) विषयता (दृश्यता), (२४) प्रज्ञा, (२५) सदसद्विलक्षणत्व

(अनिर्वचनीयत्व), (२६) रहस्यात्मक शक्ति, (२७) कृपा,[1] (२८) तुच्छता, (२९) अविद्या, (३०) काल, (३१) आकाश ।

इन इकतीस अर्थों के पीछे माया सिद्धान्त का एक लम्बा इतिहास है जिसकी चर्चा करना यहां अप्रासंगिक है । इन अर्थों में तत्वज्ञान की दृष्टि से निम्नलिखित अर्थ विशेष महत्व के हैं — (१) अविद्या, (२) अव्यक्त, (३) अक्षर, (४) अव्याकृत, (५) सृजनात्मक शक्ति, (६) उपाधि ।

इन छ: अर्थों में मुख्य अर्थ दो हैं, उपाधि और शक्ति । अन्य सभी अर्थों का अन्तर्भाव इन दो अर्थों में किया जा सकता है । उपाधि और शक्ति में भी अद्वैतवेदान्त के अनुसार कोई विरोध नहीं है क्योंकि शक्ति औपाधिक है, वास्तविक नहीं । इस दृष्टि से उपाधि की कल्पना ही माया के संप्रत्यय का मुख्य घटक सिद्ध होता है । उपाधियां माया या ईश्वर की शक्ति के संरचनात्मक विन्यास हैं । तत्व और अतत्व से अनिर्वचनीय स्वप्नमय जगत् और संसारी जीवों की अनेकता का प्रपंच उपाधियों के कारण उत्पन्न होता है । उपाधियां परिच्छेद हैं जिनके द्वारा हम ब्रह्म में जो नहीं है उसका आरोप ब्रह्म में करते हैं । इस प्रकार उपाधियों के द्वारा ब्रह्म (i) साकार ईश्वर, (ii) जगत् और (iii) जीव हो जाता है । सब भेद उपाधियों पर निर्भर हैं और उपाधियां अविद्या पर निर्भर हैं । केवल अविद्या ही उपाधियों की उत्पत्ति एवं स्थिति का कारण है क्योंकि अविद्या का स्वरूप उपाधियों से ब्रह्म का विवेक न करना है । किन्तु ब्रह्म में उपाधियों के कारण कोई विकार नहीं आता, जैसे लाल रंग के सम्पर्क से स्फटिक में कोई विकार नहीं आता । ब्रह्म उपाधियों में अन्तर्भूत हो जाता है और इस प्रकार उसका स्वरूप तिरोहित हो जाता है और उसकी स्वाभाविक अखंडता

---

१. वाचस्पत्यम् शब्दकोश, श्री तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी और शब्दकल्पद्रुम, हरिचरणवसु, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

उपाधिग्रस्त हो जाती है । उपाधियों के साथ ब्रह्म के इस सम्बन्ध पर तीन विषय आधारित हैं और यह एक विलक्षण बात है कि बिना किसी भेद के तीनों को इस प्रत्यय के अन्दर रखा जाता है : (i) उपाधियों के द्वारा परब्रह्म अपरब्रह्म हो जाता है जो उपासना का विषय है ; ईश्वर की उपाधियां पूर्ण हैं जबकि जीव की उपाधियां अपूर्ण हैं, (ii) नामरूप प्रपंच जो सीधे अविद्याकृत कहा जाता है कभी ब्रह्म की उपाधियों में गिना गया प्रतीत होता है परन्तु जगत् या प्रकृति को ब्रह्म की उपाधि कहना अनिश्चित और प्राय: दुर्लभ है, (iii) किन्तु जो चीज ब्रह्म को जीव या शरीर में अभिव्यक्त करती है उसको बार-बार उपाधि कहा गया है ; ब्रह्म से जीव की भिन्नता का एकमात्र आधार उपाधियां हैं । इस प्रसंग का अभीष्ट दृष्टान्त घट की उपाधियां हैं जो एक स्थान पर महाकाश को परिच्छिन्न करती हैं । इस अर्थ में पहले सब इन्द्रियों को या प्राणों को उपाधियां कहा जाता है और उन्हीं के साथ सूक्ष्म शरीर और जीव की नैतिक नियति को भी जिसमें संसार में सभी जीव भागीदार हैं; फिर स्थूल शरीर को जो केवल मृत्युपर्यन्त रहता है, उपाधि कहा जाता है, और अन्त में कभी-कभी विषय-वेदना को भी उपाधि कहा जाता है । जाग्रत अवस्था और स्वप्न अवस्था में उपाधियों से संयोग घटित होता है, सुषुप्ति में उनसे मुक्ति मिलती है । प्राय: केवल उनको ही उपाधि कहा जाता है जो संसार में भाग लेते हैं । इस प्रकार उपाधि की परिभाषा प्रसंगानुसार बदलती रहती है ।[२]

इस प्रकार डा० पाल डायसन ने उपाधियों को गिनाकर अद्वैतवेदान्त के अपने मार्मिक अनुशीलन का परिचय दिया है । परन्तु उनका यह

---

२. वेदान्त-दर्शन, डा० पाल डायसन, अनुवादक, कमलाकान्त पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९७१, पृ० २८३-८५ ।

कहना कि उपाधि की परिभाषा बदलती रहती है, ठीक नहीं है । वास्तव में, उपाधि व्यक्तीकरण (individuation) के निर्मापक तत्व हैं । भिन्न-भिन्न परिस्थितियों अथवा घटकों के कारण ब्रह्म की प्रतीति ईश्वर, जगत् या जीव रूप में होती है उन सबको उपाधि समझना चाहिए । इसी कारण ऊपर हमने उपाधि को माया या अविद्या की संरचनात्मिका विधि या व्यवस्था कहा है ।

पुनश्च, विद्यारण्य ने माया के तीन अर्थों पर बल दिया है। ये तीन अर्थ हैं : (i) व्यावहारिक सत्ता, (ii) तार्किक दृष्टि से अनिर्वचनीयत्व, (iii) पारमार्थिक दृष्टि से तुच्छता[3]। परन्तु इन तीनों अर्थों में जो सामान्य अनुगत है उसकी पकड़ विद्यारण्य के शब्दों में सम्भव नहीं है । इसीलिए यहाँ विद्यारण्य के द्वारा निश्चित किये गये अर्थों का भी विवेचन प्रासंगिक नहीं है ।.

वास्तव में विद्यारण्य के द्वारा निश्चित किये गये अर्थ उपाधि के अन्तर्गत आ जाते हैं । इसलिए उपाधि को ही माया का सर्वस्व समझना चाहिए । इस उपाधि रूप माया को अद्वैतवेदान्तियों ने पांच प्रकार से परिभाषित किया है —

(i) पद्मपाद के अनुसार माया सदसद् से विलक्षण है[4]। माया सत् नहीं है जैसे आत्मा सत् है । माया असत् नहीं है जैसे वन्ध्यापुत्र असत् है क्योंकि उसका अनुभव होता है । अत: माया सत् और असत् से विलक्षण है । इसी की पारिभाषिक संज्ञा अनिर्वचनीयत्व है । अत: माया अनिर्वचनीयत्व है ।

---

३. `तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयुक्ति लौकिकैः ॥
--पंचदशी, ६ । १३०

४. `सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम् ।`

(ii) आनन्दबोध के अनुसार माया सद् से विविक्त या भिन्न है[५]। आत्मा सत् है। उससे विविक्त जो कुछ दृश्य है वह माया है।

(iii) प्रकाशात्मा के अनुसार माया वह है जो ज्ञान से निवर्त्य है[६]। स्वप्न का अनुभव जागने पर निवृत्त हो जाता है। अत: स्वप्न माया है। भ्रम का विषय ज्ञान होने पर दूर हो जाता है। अत: भ्रम का विषय माया है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मज्ञान से निवर्त्य है। अत: सम्पूर्ण जगत् मिथ्या या माया है।

(iv) प्रकाशात्मा ने माया का एक और लक्षण किया है जिसके अनुसार कुछ उपाधियों के रहते त्रैकालिक निषेध का जो प्रतियोगी है वह माया है[७]। इसका तात्पर्य है कि माया निषेध का प्रतियोगी है और माया के कारण निषेध दूर होता है। किन्तु यह एक सापेक्ष कथन है। यह कथन एक मान्यता पर निर्भर है। वह मान्यता है कि ब्रह्म की कुछ उपाधियां हैं।

(v) चित्सुखाचार्य के अनुसार स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी है वह मिथ्या या माया है[८]। चित्सुख ने प्रकाशात्मा की उपर्युक्त परिभाषा का ही संशोधन किया है। उनके मत से माया स्वनिष्ठ अभाव का प्रतियोगी है।

माया के इन पांचों लक्षणों का तार्किक ढंग से समर्थन मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि में किया है और आधुनिक युग में प्रो० पी० टी० राजु ने इसका समर्थन किया है। इन सभी लक्षणों में जो सर्वाधिक ग्राह्य है, वह ‘सद्विविक्तत्व’ है। इसे असद् विलक्षणत्व भी कहा जा सकता है।

---

५. ‘सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्’ ।

६. ‘ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम् ।’

७. ‘प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम् ।’

८. ‘स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम् ।’

परन्तु मुख्यत: वह ब्रह्म से विलक्षणात्व है । कुछ लोग इसे ब्रह्म से भिन्नत्व भी कहते हैं । परन्तु भिन्नत्व और विलक्षणात्व (विविक्ततत्व) में अन्तर है जिसे प्रो० एस० एस० बारलिंगे ने अच्छी तरह से प्रतिपादित किया है[६]। माया ब्रह्म से विलक्षण है किन्तु वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है । विलक्षणात्व की कल्पना तर्कत: सम्भव है । इसी अर्थ में यहां माया का समर्थन किया जायेगा और उसके खण्डन में जो युक्तियां दी जाती हैं, उनका निराकरण किया जायेगा ।

-o-

---

६. इण्डियन फिलासफी टुडे, सं० नन्दकिशोर देवराज, में एस० एस० बारलिंगे का 'Distinguishables And Separables' नामक लेख, द मैकमिलन कम्पनी लि०, दिल्ली, १९७५ ।

द्वितीय अध्याय

-o-

दयानन्द सरस्वती और मायावाद

द्वितीय अध्याय

-0-

दयानन्द सरस्वती और मायावाद

आर्यसमाजकृत मायावाद का खंडन

आर्य समाज के संस्थापक, हिन्दू धर्म के पुनरुद्धारक, वेदों को समस्त ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत मानने वाले त्रैतवाद दर्शन के प्रतिपादक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यद्यपि शंकराचार्य के वेद प्रचार का पूर्ण समर्थन किया किन्तु उन्होंने उनके मायावाद का प्रबल खण्डन किया ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार कार्य-कारण का नियम सृष्टि का एक व्यापक नियम है । यह विश्व की प्रत्येक घटनाओं में विद्यमान है । नैयायिकों की भांति स्वामी दयानन्द को तीन प्रकार के कारण मान्य हैं, "एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण । निमित्त कारण उसको कहते हैं जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे । दूसरा उपादान कारण उसको कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़े भी । तीसरा साधारण कारण उसको कहते हैं जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो । निमित्त कारण दो प्रकार का होता है - एक, सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा । दूसरा, परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को अनेक प्रकार से कार्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव । उपादान कारण— प्रकृति, परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं । वह जड़ होने के कारण अपने आप न बन सकती है और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने

से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है[1]।

सांख्य दार्शनिकों की भांति स्वामी दयानन्द कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त पर चलते हुए जगत् के उपादान कारण के लिए प्रकृति को स्वीकार करते हैं। सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद कि कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है, स्वामी दयानन्द को मान्य है। उनकी मान्यता है कि कार्य रूपी अंकुर 'जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था जो न होता तो उत्पन्न कभी नहीं होता।'[2] प्रत्येक कार्य का एक कारण है और जो कारण है वह भी किसी का कार्य है, लेकिन कार्य-कारण की यह शृंखला अनन्त तक नहीं चल सकती है। अत: अन्तिम कारण के रूप में एक ऐसी सत्ता को मानना पड़ता है जो समस्त ब्रह्मांड का उपादान है। यह उपादान स्वामी दयानन्द के अनुसार 'सब जगत का मूल घर और स्थिति का स्थान है और यह सब जगत सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश ...... प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था, अभाव न था।'[3]

पुनश्च, स्वामीदयानन्द के दर्शन में प्रकृति का स्वरूप कुछ सांख्य दर्शन की प्रकृति के समान है किन्तु शैव दर्शन की प्रकृति के पूर्णतया समान है। उनके अनुसार 'सत्व, रज एवं तम के साम्यावस्था का नाम प्रकृति है[4]। साम्यावस्था में प्रकृति के तीनों गुणों में साम्य रहता है। तीनों का सम्बन्ध

---

१. सत्यार्थप्रकाश, महर्षि दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्दाश्रम, अजमेर, पैंतीसवीं आवृत्ति, १६७१, पृ० १६८-६६।
२. वही, पृ० २०३।
३. वही, पृ० १६८।
४. 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृति......' इस सूत्र पर स्वामी दयानन्द का भाष्य, वही, पृ० २०८-६ ।

इस प्रकार होता है कि एक गुण दूसरे की क्रिया को रोके रखता है । `उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था[5]।` क्योंकि कार्य जगत् अपने सूक्ष्म कारण मूल प्रकृति में लीन था ।

स्वामी दयानन्द का दर्शन `त्रैतवाद` के नाम से जाना जाता है क्योंकि उनके मत में ईश्वर, जीव और जगत् का उपादान कारण-रूपा प्रकृति, ये तीनों पदार्थ अनादि हैं । इन्हीं तीनों पदार्थों को नित्य भी कहते हैं और जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म एवं स्वभाव भी नित्य हैं । `द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया .....` ऋग्वेद का यह मन्त्र भी स्वामी दयानन्द के अनुसार त्रैतवाद का प्रतिपादन करता है । इस मन्त्र का भाष्य स्वामी दयानन्द इस प्रकार करते हैं -- `(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त(सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन, अनादि और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि है......[6]।`

पुनश्च, स्वामीदयानन्द स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जगत् का कारण प्रकृति अनादि पदार्थ है[7]। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण । अपने मत की पुष्टि के लिए वह कहते हैं कि `उपादान कारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं`। अतः ब्रह्म जगत् का उपादान करण नहीं

---

५. वही, पृ० २०० ।

६. वही, पृ० १९६ ।

७. `ईश्वर, जीव और जगत् का कारण प्रकृति ये तीन अनादि हैं ।` वही, पृ० १९६ ।

कदापि नहीं हो सकता क्योंकि '.......ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है, ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्ड रूप है और जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवे तो पृथिव्यादि में कार्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवे अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ है वैसे ब्रह्म भी जड़ हो जाय ....।'[८]

पुनश्च, कल्प के आदि में परमात्मा अपनी सामर्थ्य से कारणरूपप्रकृति को कार्यरूप जगत् में परिणत कर देता है। 'यह सब जगत्-सृष्टि के पहले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सम्मुख एकदेशी आच्छादित था, पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया।'[९] स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द के अनुसार जड़ प्रधान स्वयं सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता और यदि कहा जाय कि प्रधान में सृष्टि कर्तृत्व स्वभाव से है तो स्वामी दयानन्द का कहना है कि पदार्थों का स्वभाव नष्ट नहीं होता। इससे सृष्टि निर्माण कला का प्रधान का स्वभाव होने से विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता और यदि विनाश स्वभाव में हो तो निर्माण कभी हो ही नहीं सकता और यदि दोनों स्वभाव साथ मान लें तो स्वामी दयानन्द के अनुसार इससे उत्पत्ति और विनाश दोनों ही असम्भव हो जायेंगे[१०]।

---

८. वही, पृ० २०० ।

९. वही, पृ० १९५-९६ ।

१०. 'जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानो तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनों स्वभाव युगपत् द्रव्यों से मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी।' --वही, पृ० २०५-६

इस प्रकार स्पष्ट है कि जगत्-निर्माण के उपादान के रूप में प्रकृति परमात्मा पर आश्रित है । यदि परमात्मा इसे कारणरूप से कार्यरूप में परिणत न करे तो सृष्टि का निर्माण प्रकृति स्वयं नहीं कर सकती अर्थात् कार्यरूप होने के लिए यह परमात्मा पर आश्रित है । जैसे मिट्टी अपने विकार घटादि में परिणत होने के लिए कुम्भकार पर आश्रित है परन्तु अपने अस्तित्व के लिए नहीं, उसी प्रकार मूल प्रकृति का अस्तित्व परमात्मा पर आश्रित नहीं है क्योंकि प्रकृति अनादि पदार्थ है ।

प्रकृति के विकार का वर्णन करते हुए स्वामी दयानन्द का कहना है कि परमात्मा प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप तीनों गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और निश्चित नियमों के आधार पर प्रकृति में विकार उत्पन्न हो जाता है । प्रकृति का सर्वप्रथम विकार महत्तत्त्व बुद्धि है । इससे अहंकार, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दस इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूतों की उत्पत्ति होती है।[11] प्रकृति से सृष्टि के विकास का यह क्रम स्वामी दयानन्द ने सांख्य दर्शन से लिया है ।

परन्तु प्रकृति को अनादि मानते हुए भी स्वामी दयानन्द शंकराचार्य के माया सिद्धान्त का निरसन करते हैं । उनके अनुसार अद्वैतवेदान्त का मायावाद अवैदिक है । वे कहते हैं 'जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान में अनित्यत्व और उसके परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता ।'[12] जगत् स्वप्नवत् है, वह रज्जु में सर्प की तरह है, वह सीप में चांदी की तरह है, वह मृगतृष्णा के जल के समान है आदि अद्वैत दृष्टान्तों का वे खण्डन करते हैं । उनके मत से इन दृष्टान्तों के आधार पर जगन्मिथ्यात्व

---

११. वही, पृ० १६७ ।

१२. वही, पृ० २०४ ।

को सिद्ध करना अनुचित है । वे कहते हैं 'जो जगत् को स्वप्नरज्जुसर्पादिवत् कल्पित कहे तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि कल्पनागुण है ।'.... 'जैसे स्वप्न बिना देखे सुने कभी नहीं आता, जो जाग्रत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ है उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासना रूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है ।'[१३]

शंकराचार्य अध्यास की व्याख्या 'अध्यासो नामातस्मिंस्तद्-बुद्धि' के रूप में करते हैं अर्थात् जहां जो वस्तु नहीं है वहां उसे कल्पित करना जैसे रस्सी, जो सत्पदार्थ-वस्तु है, में अवस्तु सर्प जो असत् पदार्थ है, की कल्पना करना अध्यास है अर्थात् जैसे रस्सी में सर्प अध्यस्त हो जाता है, वैसे ही जगत् ब्रह्म में अध्यस्त हो जाता है, परन्तु स्वामी दयानन्द का आक्षेप है 'जो वेदान्ती लोग विवर्तवाद अर्थात् रज्जु में सर्पादि के भान होने का दृष्टान्त, ब्रह्म में जगत् के भान होने में देते हैं, वह भी ठीक नहीं है ।'[१४] वे अद्वैतवेदान्तियों से कहते हैं 'तुम (शंकरवादी) रज्जु को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानकर इस भ्रम जाल में पड़े हो । क्या सर्प वस्तु नहीं है ? यदि कहो कि रज्जु में नहीं देशान्तर में है और उसका संस्कार मात्र हृदय में है, तो फिर वह सर्प भी अवस्तु नहीं रहा ।'[१५] यहां स्वामी दयानन्द का तात्पर्य यह है कि रज्जु में सर्पभ्रम के समय रज्जु के स्पष्ट न दिखायी पड़ने से और रज्जु व सर्प की समानता का ही भान होने से पूर्व दृष्ट सर्प के चिन्ह में स्थित संस्कारों की स्मृति हो जाती है । इसीलिए रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है जो अन्य में अन्य की प्रतीति है, वस्तु में अवस्तु की प्रतीति नहीं क्योंकि पूर्व दृष्ट सर्प वस्तु है, अवस्तु नहीं है । अतः अद्वैतवेदान्तियों का

---

१३ वही, पृ० २०४ ।

१४ वही, पृ० २७३ ।

१५ वही, पृ० २७३ ।

यह दृष्टान्त भी उचित नहीं प्रतीत होता है ।

पुनश्च, स्वामी दयानन्द सरस्वती के मतानुयायी एवं प्रचारक पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय भी अद्वैत वेदान्तियों के इस मत से असहमत हैं कि रज्जु में सर्प की प्रतीति का कारण अविद्या है । उनका प्रश्न है 'क्या अविद्या और 'रस्सी में सर्प की प्रतीति' में कारण और कार्य का सम्बन्ध है अथवा रस्सी में सर्प की प्रतीति ही अविद्या का एक रूप है ? यदि अविद्या को इस प्रतीति का कारण माना जाय तो अवश्य अविद्या एक पदार्थ है जो उसी प्रकार ऐसी भ्रान्तियां उत्पन्न किया करती है जैसे मकड़ी जाला'[१६] । परन्तु यह ठीक नहीं है । अविद्या कोई पदार्थ नहीं है । वह अल्प ज्ञान है या ज्ञानाभाव है । यथार्थ वस्तु का ज्ञान न होना ही अविद्या है । अब प्रश्न उठता है कि ज्ञाता कौन है ? ज्ञान की अवस्था में सर्प का भ्रम नहीं होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब रस्सी में सर्प की प्रतीति हो रही थी तो मुझमें ज्ञान का अभाव था । इसी प्रकार यदि अद्वैतवेदान्त में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म को ही प्रतीति हुई होगी अर्थात् यह अन्यथा प्रतीति यथार्थ ज्ञान के अभाव की अवस्था में हुई । किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि ब्रह्म शुद्धज्ञानस्वरूप है । यदि उसको अन्यथा प्रतीति होती है तो वह ज्ञानी नहीं है ।

पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय ने शंकराचार्य के प्रबल अनुयायी साधु निश्चल दास एवं विद्यारण्य जैसे दो उद्भट अद्वैतवेदान्तियों की भी आलोचना की है । शंकराचार्य का कहना था कि जिस प्रकार चांद एक है परन्तु कभी-कभी अविद्या के कारण दो प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार ब्रह्म एक है किन्तु अविद्या के कारण नामरूप का भेद करके संसार में अनेक वस्तुयें प्रतीत होती हैं । इस पर

---

१६. अद्वैतवाद, पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय, कला प्रेस प्रयाग, तृतीय संस्करण, १६५७, पृ० २४८-४६ ।

गंगा प्रसाद उपाध्याय का आक्षेप है कि एक चांद को अनेक देखना पूर्णतः दृष्टा की भूल है। इस भूल को भ्रम या अविद्या कुछ भी कहा जा सकता है। शंकराचार्य ने इसको अविद्या कहा है और कहीं-कहीं इसी को माया के नाम से अभिहित किया है। निश्चलदास जी अविद्या, अज्ञान, प्रकृति, माया और शक्ति को पर्यायवाची मानते हैं और उसे आवरण विक्षेप शक्ति से युक्त अनादि भावरूप पदार्थ मानते हैं।[१७] गंगा प्रसाद उपाध्याय का आक्षेप है 'क्या अज्ञान कोई पदार्थ है जिसमें आवरण अर्थात् ढक लेने की या विक्षेप अर्थात् छिपाने की शक्ति हो।[१८] निश्चलदास जी के वृत्तिप्रभाकर से इसका उदाहरण देते हुए वे कहते हैं 'शशशृंग के समान अभाव का नाम अज्ञान नहीं है किन्तु 'प्रकाश विरोधी अन्धकार को भावरूपता प्रतिपादन करके ज्ञान-विरोधी अन्धकार की भावरूपता का प्रतिपादन करना है।' उपाध्याय जी का कथन है कि प्रकाश और अन्धकार दोनों एक दूसरे के भावरूप शत्रु नहीं हैं। दीपक के आने पर अन्धकार अन्यत्र नहीं चला जाता, किन्तु अन्धकार नाम ही प्रकाश के अभाव का द्योतक है। इसलिए जब प्रकाश आ गया तो अन्धकार न रहा। अतः जब अन्धकार भावरूप पदार्थ नहीं है तो अज्ञान को भी भावरूप नहीं कहा जा सकता है। अज्ञान कोई परदा नहीं है जो ज्ञान को आवृत कर देता है। यहां कहा जा सकता है कि कभी-कभी परदा भी अज्ञान अर्थात् ज्ञान के अभाव का कारण हो सकता है। परन्तु यहां परदा और वस्तु है और ज्ञान का न होना और वस्तु है। 'यदि एक चांद के अनेक चांद दिखायी दें तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनेक चांद की प्रतीति ने एक चांद की प्रतीति को ढक लिया। इसलिए अज्ञान या अविद्या (जिसे मायावादी 'माया' भी कहते हैं) केवल ज्ञान के अभाव का नाम है।[१९]

---

१७. वृत्तिप्रभाकर, साधु निश्चलदास, खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, १९५०, पृ० ३४४।

१८. अद्वैतवाद, पृ० २६३-६४ ।

१९. वही, पृ० २६३-६४ ।

अद्वैतवेदान्त में माया को अनिर्वचनीय कहा गया है । सदानन्द
निरंजन दास का भी कहना है कि माया न तो ब्रह्म के समान सत् है और न
खरगोश की सींग के समान असत् है । अत: माया, अविद्या या अज्ञान सत्, असत्
से विलक्षण अनिर्वचनीय है । स्वामी दयानन्द का आक्षेप है कि माया का यह
रूप अनोखाम्य होने के कारण स्वीकार्य नहीं है । यह तो समस्या को सुलझाने
का उपाय नहीं वरन् उससे बच निकलने का साधन है । यह मात्र वदतोव्याघात
है । `यह ऐसी बात है जैसे सोने में पीतल मिला हो । उसको सराफ के पास
परीक्षा करावे कि यह सोना है वा पीतल । तब यही कहोगे कि इसको हम न
सोना न पीतल कह सकते हैं किन्तु इसमें दोनों धातु मिली है ।[20]

पुनश्च, माया की अनिर्वचनीयता पर आक्षेप करते हुए
पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय का कहना है `अनिर्वचनीय वह वस्तु है जिसका निर्वचन
न हो सका । किसी वस्तु की केवल सत्तामात्र बता देना निर्वचन नहीं है । यदि
यह पूछा जाय कि ब्रह्म क्या है ? और इसका उत्तर दिया जाय कि ब्रह्म है तो
ब्रह्म का निर्वचन नहीं हुआ । इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से शंकराचार्य या
निरंजन दास आदि के मत में ब्रह्म के विषय में `सत्ता` से अधिक बात नहीं कही
जा सकती और जो कुछ गुण इतस्तत: ब्रह्म के बताये भी गये हैं वह व्यावहारिक
और इसलिए अविद्या कल्पित है । अत: ब्रह्म भी अनिर्वचनीय ही ठहरता है ।[21]
इस प्रकार जब माया एवं ब्रह्म दोनों अनिर्वचनीय हैं तो फिर दोनों में अन्तर
कैसा ? यदि अद्वैतवेदान्तियों की ओर से यह कहा जाय कि माया ब्रह्म वस्तुवत्
नहीं है तो इस पर उपाध्याय जी का कहना है कि तो फिर यह स्वीकार करना
पड़ेगा कि `ब्रह्म है` और `माया नहीं है` और यदि `माया नहीं है` तो
मायावाद और माया द्वारा कल्पित जगत् दोनों को कैसे स्वीकार किया जा
सकता है ?

---

२०. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २७५ ।

२१. अद्वैतवाद, पृ० २६४-६५ ।

पुनश्च, अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि चूंकि माया की प्रतीति होती है, इसलिए खरगोश के सींग के समान या आकाश-कुसुम की तरह माया को असत् नहीं कहा जा सकता है । फिर, वह कालान्तर के अनुभव से बाधित हो जाती है, अतएव उसे ब्रह्म की तरह सत् भी नहीं कहा जा सकता है । इसीलिए माया को सत और असत् इन दो सामान्य कोटियों से विलक्षण माना जाता है । उपाध्याय जी का कहना है कि यह सब एक पहेली बुझने के समान है । किसी भी अवस्था में यह सम्भव नहीं है क्योंकि अनुभव यही सिद्ध करता है कि सभी पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत् । यह कैसे कहा जा सकता है कि माया न सत् है और न असत् ? इसे अद्वैतवेदान्तियों के अनर्गल आलाप से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता ।

पुनश्च, 'यदि 'माया' अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है तो इतने मायावादी इसका वर्णन ही क्यों करते हैं ? यदि वर्णन करते हैं तो यह अनिर्वचनीय कैसे रही ? यदि कहो कि अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ केवल इतना ही है कि हम उसका पूरा-पूरा निर्वचन नहीं कर सकते तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य का ज्ञान इतना अल्प है कि वह ब्रह्म और माया तो क्या संसार की छोटी से छोटी वस्तु अर्थात् चींटी का भी पूरा निर्वचन नहीं कर सकता । इसलिए संसार के सभी पदार्थ अनिर्वचनीय सिद्ध होंगे ।[२२]

अद्वैतवेदान्त में माया या अविद्या को अनादि माना गया है । गंगा प्रसाद उपाध्याय अनादि के अर्थ को लेकर माया पर आक्षेप करने का प्रयास करते हैं । अज्ञान के कारण ही कोई वस्तु दो दृष्टिगोचर होती है अर्थात् वस्तु को दो देखने वाला अज्ञानी है और 'यदि यह अज्ञान अनादि है तो इसका यह अर्थ होगा कि व्यक्ति को कभी ज्ञान हुआ ही नहीं, सदा भ्रान्ति ही भ्रान्ति

---

२२. वही, पृ० २६६ ।

रही ।[२३] इस प्रकार उपाध्याय जी का विचार है कि अविद्या या माया को अनादि मानने पर सीधा अर्थ यही होगा कि ब्रह्म अनादि है ही अज्ञानी और भ्रमित है । अनादि का इससे भिन्न कोई अन्य अर्थ करना अनुचित है ।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों का कहना है कि अद्वैतवेदान्त में माया, अविद्या या अज्ञान एक ऐसी सत्ता है जो `है' और `नहीं है' एवं इन दोनों से विलक्षण `अनिर्वचनीय' है । उनका कहना है कि शंकराचार्य ने माया या अज्ञान का स्वरूप एवं इसकी पारमार्थिकता तथा जगत् से सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से नहीं बताया है । यही कारण है कि बाद के टीकाकार स्पष्ट रूप से एक ओर ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहने तथा दूसरी ओर जगत् को मिथ्या कहने में घबड़ाते हैं और साथ ही साथ वे शंकराचार्य के सिद्धान्तों से भी किसी प्रकार हटना नहीं चाहते, इसीलिए कोई माया को जड़ात्मिका कहता है तो कोई मात्र ब्रह्म की शक्ति ।

उपर्युक्त खण्डन का प्रतिखण्डन

पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने `दयानन्दतिमिर भास्कर' लिखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूर्वोक्त खण्डन का उत्तर दिया है । उनका यह ग्रन्थ वास्तव में सत्यार्थप्रकाश का खण्डन है और जैसे द्वैतवेदान्त के न्यायामृत और अद्वैतवेदान्त के अद्वैतसिद्धि का सम्बन्ध है वैसे ही सत्यार्थप्रकाश और दयानन्द-तिमिर भास्कर का सम्बन्ध है । मिश्र जी शांकर वेदान्त के अनुयायी थे और स्वामी दयानन्द अद्वैतवेदान्त के विरोधी तथा त्रैतवाद के समर्थक थे । यही कारण है कि मिश्र जी ने स्वामी दयानन्द के उन सिद्धान्तों का खण्डन किया जिनके द्वारा स्वामी जी अद्वैत वेदान्त का खण्डन करते हैं ।

---

२३. वही, पृ० २६६ ।

स्वामी दयानन्द ने अद्वैतवेदान्त के मूलाधार अभिन्न-निमित्तोपादान कारणवाद का खण्डन किया है। उसके खण्डन में मिश्र जी ने शारीरकभाष्य के निम्नलिखित अंशों का विस्तार से अनुवाद करके स्वामी दयानन्द को उत्तर दिया है[24]—

(क) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।। ब्रह्मसूत्र, अ० १ पा० ४ सू० २३

(ख) अभिध्योपदेशाच्च ।। ,, अ० १ पा० ४ सू० २४

(ग) साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।। ,, अ० १ पा० ४ सू० २५

(घ) स्वाप्ययात् ।। ,, अ० १ पा० १ सू० ९

(च) गतिसामान्यात् ।। ,, अ० १ पा० १ सू० १०

(छ) श्रुतत्वाच्च ।। ,, अ० १ पा० १ सू० ११

इस प्रकार पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवाद के पक्ष में शंकराचार्य की निम्नलिखित युक्तियों को प्रस्तुत किया है—

(१) श्रुतियों में जिस ब्रह्म को निमित्तकारण कहा गया है, उसी को उपादान कारण भी कहा गया है। ब्रह्म को निमित्त कारण बतलाने वाली श्रुतियां हैं— `स ईक्षाञ्चक्रे` (प्र० ६।३), `सो कामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति ( तैत्ति०२।६)। ब्रह्म को उपादान बताने वाली श्रुतियां हैं — `यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन ` (छा० ६।१।४, ५, ६) इत्यादि।

(२) जगत् का मूल कारण जो प्रकृति है वही ब्रह्म है `प्रकृतिश्च ब्रह्म `। ब्रह्म ने सम्पूर्ण जगत् को अपने अन्दर से ही वैसे ही उत्पन्न किया है जैसे मकड़ी जाला उत्पन्न करती है।

(३) जगत् का मूल कारण वही हो सकता है जो जगत् का उपादान कारण हो और उस उपादान कारण को गति प्रदान करने वाला भी हो। जैसे, आधुनिक

---

२४. दयानन्दतिमिरभास्कर, पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९३०, पृ० २४२-४४।

विज्ञान में गति तत्व (motion) और प्रकृति तत्व को एक दूसरे से अभिन्न माना जाता है वैसे ही शंकराचार्य ने भी निमित्त और उपादान कारणों को एक दूसरे से अभिन्न माना है । गति विहीन अथवा निमित्त रहित प्रकृति नहीं हो सकती और उपादान रहित अथवा प्रकृति रहित गति नहीं हो सकती । अतएव प्रकृति और गति को अभिन्न मानना युक्तिसंगत तथा श्रुतिसंगत है ।

पुनश्च, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने `द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया` इत्यादि द्वैत श्रुतियों को अपने त्रैतवाद का मुख्य आधार बनाया है । परन्तु मिश्र जी का कहना है कि इस मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने अनर्थ किया है क्योंकि इस मन्त्र के अनुसार जो दो आत्मायें कही गयी हैं, उनमें से केवल एक आत्मा ही वेद प्रतिपाद्य है और दूसरी आत्मा जो भोक्ता है या जीवात्मा है, वह वस्तुतः केवल अज्ञान के कारण अभोक्ता आत्मा से भिन्न प्रतीत होती है ।[२५]

इसी प्रकार `अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां` की भी जो व्याख्या स्वामी दयानन्द ने की है वह नारादीय सुक्त तथा तैत्तिरीय उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् के सर्व ब्रह्मवाद के अनुसार नहीं है । अतएव गलत है । उसकी ठीक व्याख्या अद्वैत मतानुसारी होने पर ही वैदिक वाङ्मय के अनुकूल है । अतएव मिश्र जी ने `अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां` की अद्वैत सम्मत व्याख्या करके स्वामी दयानन्द के स्वतन्त्र प्रकृतिवाद का खण्डन किया है ।[२६]

फिर जब स्वामी दयानन्द सरस्वती मायावाद को अवैदिक सिद्धान्त कहते हैं तो उनकी दृष्टि अनैतिहासिक हो जाती है । मिश्र जी ही नहीं अपितु कोलब्रुक, गफ डायसन, रानडे आदि जिन आधुनिक मनीषियों ने उपनिषदों का आलोचनात्मक अनुशीलन किया है उन सबका मतैक्य है कि

---

२५. वही, पृ० २७४ इत्यादि ।

२६. वही, पृ० २७५-८२ ।

मायावाद पूर्णतया औपनिषद् सिद्धान्त है और वेदों में भी उसके बीज पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । चूंकि इस विषय का पर्याप्त विवेचन अनेक शोध कर्ताओं ने किया है इसलिए इस ऐतिहासिक प्रश्न का उत्तर देना मात्र पिष्टपेषण होगा । परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द वस्तुतः उन सगुण वेदान्तियों के प्रभाव में पड़ गये जिन्होंने मायावाद को अवैदिक मत कहा था और शंकराचार्य को इस कारण प्रच्छन्न बौद्ध माना था । आज अधिकांश दर्शनज्ञ विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मायावाद अवैदिक नहीं है[२७]।

इसी प्रकार यद्यपि स्वामीदयानन्द को साधु निश्चलदास कृत अनिर्वचनीयत्व का लक्षण मालूम था फिर भी उन्होंने उसका जो खण्डन किया है उसमें अप्रतिपत्ति नामक निग्रह स्थान है अर्थात् वे अनिर्वचनीयत्व को समझ नहीं सके हैं । इसलिए उन्होंने उसके ऊपर एक दूसरा लांछन 'वदतोव्याघात' होने का लगाया है किन्तु उन्हें इस बात की जानकारी नहीं है कि द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र का बाध नियम त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र में खण्डित हो गया है और अवक्तव्य कोटि का जो वर्णन जैन तर्कशास्त्र में किया गया है वह वदतोव्याघात मात्र का निषेध करता है । इसी प्रकार मायावाद भी बाध नियम का खण्डन करता है और वह उस तृतीय तर्कमूल्य को सूचित करता है जो न सत्य है और न असत्य ।

अन्त में, स्वामीदयानन्द ने मायावाद के खण्डन में अध्यास सिद्धान्त का भी खण्डन किया है और इस प्रसंग में उनका सिद्धान्त वेदान्त के अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के विरोध में न्याय के अन्यथाख्यातिवाद को मानना है । परन्तु अन्यथाख्यातिवाद का खण्डन मण्डन मिश्र के 'विभ्रम विवेक' से लेकर साधु निश्चलदास के 'वृत्ति-प्रभाकर' तक इतना अधिक हो गया है कि उसके रहते कोई भी दार्शनिक अन्यथाख्यातिवाद को स्वीकार नहीं कर सकता । आश्चर्य

---

२७. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, अनुवादक, रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दीग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७१ ।

है कि स्वामीदयानन्द ने अन्यथाख्याति के इन खण्डनों से परिचय नहीं प्राप्त किया और न उसका निराकरण ही किया । अतएव अन्यथाख्याति को मानना उनका एक रूढ़िवादी सिद्धान्त है जिसमें अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का अत्यन्त सतही ज्ञान प्रदर्शित होता है । अध्यस्त का तात्पर्य स्वामी दयानन्द ने असत् लगाकर अध्यासवाद का खण्डन किया है । सभी अद्वैतवेदान्ती अध्यस्त को अनिर्वचनीय कहते हैं और उसे असत् से भिन्न करते हैं । किन्तु स्वामी दयानन्द अध्यस्त और असत् का सूक्ष्म विवेक समझ न सके ।

पुनश्च, अन्यथाख्यातिवाद के प्रसंग में साधु निश्चलदास के तर्क अत्यन्त प्रासंगिक हैं —

'इदं रजतम्' इस अनुभव में इदम् की प्रतीति सत्य है और रजतम् की प्रतीति मिथ्या है । साधुनिश्चलदास का कहना है कि शुक्ति (इदं) और रजत का तादात्म्य अन्य स्थान में प्रसिद्ध नहीं है । इसलिए पुर्ववर्ति देश में शुक्ति और रजत का तादात्म्य अनिर्वचनीय है । जब नैयायिक शुक्ति में रजतत्व का समवाय मानते हैं तो शुक्ति ज्ञान से उत्तर काल में 'न इदं रजतम्' ऐसा बाध होता है और इस प्रकार रजत का बाध और इदं का तादात्म्य हो जाता है । अत: यदि भ्रमकाल में इदं का तादात्म्य रजत से नहीं है तो रजत का बाध निर्विषय हो जायेगा और यदि शुक्ति में रजतत्व का समवाय है तो 'न अत्र रजतम्' ऐसा बाध होना चाहिए किन्तु ऐसा बाध नहीं होता । बाध होता है 'न इदं रजतम्' इस रूप में । अत: शुक्ति और रजत का तादात्म्य उभय सापेक्ष है। किन्तु यह तादात्म्य प्रसिद्ध नहीं है । अत: उसको अनिर्वचनीय कहा जाता है । अत: अनिर्वचनीय तादात्म्य की मान्यता अध्यास के अनुभव में अनिवार्य है।[२८]

---

२८. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३१०-११ ।

यदि स्वामीदयानन्द ने साधु निश्चलदास के इस तर्क पर विचार किया होता तो निःसन्देह उन्हें अपनी गलती का निवारण मिल जाता। वास्तव में, अन्यथाख्यातिवाद के दृष्टिकोण से अनिर्वचनीयख्यातिवाद पर जितने आक्षेप लगाये जा सकते हैं, उन सब का खण्डन साधु निश्चलदास ने अपने वृत्तिप्रभाकर में कर दिया है[२६]।

पुनश्च, बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की विचार सरणि के अनुसार शांकर-मायावाद के खण्डन को और आगे बढ़ाया तथा स्वामी विद्यारण्य और साधु निश्चलदास के ग्रन्थों को पढ़कर मायावाद के पक्ष में दिये गये उनके तर्कों का खण्डन किया तथापि उन्होंने पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित दयानन्दतिमिरभास्कर की बिल्कुल उपेक्षा की । सम्भवतः उपाध्याय जी ने सोचा कि रक्षा करने के बजाय आक्रमण करना अधिक शक्ति का परिचायक है । किन्तु प्रारम्भ में भले ही आक्रमण का महत्व आत्मरक्षा से अधिक हो किन्तु अन्ततोगत्वा जो अपनी आत्मरक्षा नहीं कर सकता वह आक्रमण भी नहीं कर सकता क्योंकि आक्रमण करने के पूर्व ही वह नष्ट हो जाता है । ठीक यही दशा पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय के तर्कों की है । स्वामीदयानन्द सरस्वती के तर्कों की रक्षा वे पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र के खण्डन से न कर सके और वह स्वामी विद्यारण्य और साधु निश्चलदास के मायावाद के खण्डन में लग गये । अब देखना है कि उनके खण्डन की क्या शक्ति है —

उपाध्याय जी ने सबसे प्रबल प्रहार माया की अनिर्वचनीयता पर किया है । परन्तु उन्होंने ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और माया की अनिर्वचनीयता को एक जैसा समझ लेने की भूल की है । उनको माया ने छल लिया । सभी

---

२६. वही, पृ० ३०७-१० और ३१०-१४ ।

अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और माया की अनिर्वचनीयता में भेद करते हैं क्योंकि दोनों के दो अर्थ हैं । यद्यपि दोनों को एक ही शब्द अनिर्वचनीय से कभी-कभी सम्बोधित किया जाता है तथापि ब्रह्म के सन्दर्भ में उसका अर्थ है अवर्णनीय और माया के सन्दर्भ में उसका अर्थ है सत्, असत् विलक्षणत्व । दोनों अर्थों का घपला करके उन्होंने अपनी मन्द बुद्धि का परिचय दिया है । ब्रह्म के सन्दर्भ में अनिर्वचनीय कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है परन्तु माया के सन्दर्भ में वह एक पारिभाषिक शब्द है ।

पुनश्च, उपाध्याय जी का यह कथन कि यदि माया अनिर्वचनीय है या अवक्तव्य है तो इतने मायावादी उसका वर्णन ही क्यों करते हैं, गाली देने के बराबर है । उन्हें इस बात का पता नहीं है कि बहुत-सी ऐसी वस्तुयें हैं जो न सत् हैं और न असत् । उदाहरण के लिए, परमाणुओं को न सत् कहा जा सकता है और न असत् क्योंकि वे मात्र कल्पित हैं । इसी प्रकार ज्यामिति की आकृतियों को भी न सत् कहा जा सकता है और न असत् क्योंकि वे केवल मानसिक निर्मितियां हैं । ज्यामिति का बिन्दु या रेखा न सत् है और न असत् क्योंकि वह मात्र मानसिक निर्मिति है । इसी प्रकार सारा प्रपंच मानसिक निर्मिति है, वैज्ञानिकों की अवधारणाओं का प्रतिफल है । अतः उसको ठीक ही न सत् कहा जा सकता है और न असत् । यदि उपाध्याय जी गणित के विषयों का विचार करते और उन्हें फ्रेग के तर्क गणित का परिचय होता तो वे सदसद् विलक्षणत्व को वेदान्तियों का अनर्गल प्रलाप न कहते । ऐसी परिस्थिति में उनकी आलोचना बे सिर पैर की बकवास है । वास्तव में, जब वे आपत्ति करते हैं कि माया को सत् असत् से विलक्षण मान लेने पर जगत् की सभी वस्तुयें अनिर्वचनीय हो जायेंगी तो उनकी यह आपत्ति अद्वैतवेदान्तियों के लिए इष्टापत्ति हो जाती है और उपाध्याय जी के लिए यह दबी जुबान से मायावाद की स्वीकृति होजाती है । आश्चर्य है कि उन्होंने अपने इस विकल्प के पक्ष में कोई तर्क नहीं दिया है ।

अनादि का भी अर्थ उपाध्याय जी ने गलत किया है। अनादि को वे एक तात्विक कोटि मानने की भूल करते हैं। जब अज्ञान को अनादि कहा जाता है तो उसका सीधा अर्थ यह है कि अज्ञान के उद्भव को बताया नहीं जा सकता है। क्योंकि, कब और कैसे अज्ञान का जन्म होता है? यह स्वतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। इसलिए ज्ञान मीमांसात्मक अर्थ में अज्ञान को अनादि कहा गया है न कि तात्विक अर्थ में। परन्तु उपाध्याय जी का दृष्टिकोण तो ज्ञानमीमांसात्मक कतई नहीं है। इसलिए वे अद्वैत ज्ञान-मीमांसा का एक अक्षर भी नहीं समझ सके। इसके फलस्वरूप वे एक और भूल करते हैं और कहते हैं कि प्रकृति स्वतः ईश्वर से स्वतन्त्र है और अपने कार्य के लिए वह ईश्वर के अधीन है। यदि उन्हें आधुनिक विज्ञान का कार्य-कारणवाद या बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पाद या वेदान्तियों का विवर्तवाद अच्छी तरह समझ में आता तो वे प्रकार्यात्मक कारण सम्बन्ध (Functional Causality) के हेतु प्रकृति को ईश्वर से स्वतन्त्र मानने की भूल न करते। यदि प्रकृति का सारा कार्य-कलाप ईश्वराधीन ही है तो फिर प्रकृति के अस्तित्व को उससे पृथक् करना और उसे स्वतः ईश्वर से स्वतन्त्र मानना एक मिथ्या विश्वास है जिसे वाग्जाल प्रेतात्मा में विश्वास कहा जाता है। किसी वस्तु का अस्तित्व उसके कार्य-कलापों से अभिन्न रहता है। अतः यदि उपाध्याय जी गम्भीरता से सोचते तो उन्हें ईश्वर और प्रकृति के द्वैत में स्वयं उनके अनुसार दोष विदित हो जाता और वे ईश्वर और प्रकृति के अनन्यत्व अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का खण्डन न करते।

इस प्रकार आर्यसमाज के दार्शनिकों ने मायावाद का जो खण्डन किया वह निराधार है। यही कारण है कि भारतीय विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापकों के ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किसी ने आर्यसमाज के दर्शन को इतना महत्व ही नहीं दिया कि वह विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए अध्ययन का विषय हो सके। आर्यसमाज केवल एक धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन मात्र रह गया। वह दार्शनिक आन्दोलन न कर सका।

-o-

तृतीय अध्याय

-०-

श्री अरविन्द और मायावाद

तृतीय अध्याय

-0-

श्री अरविन्द और मायावाद

श्री अरविन्द का माया सम्बन्धी विचार

परमतत्त्व सच्चिदानन्द है । वह अव्यय, नित्य एवं अपार है । यह विश्व-चराचर उसी परमतत्त्व की अभिव्यक्ति है । 'समस्त सृष्टि या संभूति वस्तुत: इस आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । बीज में से उसी का विकास होता है जो बीज में विद्यमान है, सत्ता में पहले से ही अस्तित्ववान् है, उसके संभूति के संकल्प में पूर्व-निर्दिष्ट है, संभूति के आनन्द में पूर्व-व्यवस्थित है ।'[१] इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में वास्तविक रूप में परमतत्त्व ही अवस्थित है । वह अद्वितीय ही अपने को व्यक्तिगत रूप में 'यह मैं हूं' के रूप में व्यक्त करता है और इस रूप में अनेक क्रीड़ा करने में समर्थ अपनी शक्ति द्वारा विभिन्न कार्यों को सम्पादित करता है । उसके इस कार्य

---

१. '.. All creation or becoming is nothing but this self-manifestation. Out of the seed there evolves that which is already in the seed, pre-existent in being, predestined in its will to become prearranged in the delight of becoming.' द लाइफ डिवाइन, श्री अरविन्द, श्री अरविन्द-आश्रम, पांडिचेरी, आठवीं आवृत्ति, १९७३, पृ० ११२ ।

का सम्पादन आत्मनिर्माण की विभिन्न क्रीड़ाओं के लिए होता है[२]।

समस्त मानव जाति का एकमात्र उद्देश्य पूर्णता की प्राप्ति है, परन्तु मानव अपनी सीमित चेतना के द्वारा इस पूर्णता की प्राप्ति में अशक्त है क्योंकि सीमित से असीमित का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतएव मानव का परम लक्ष्य असीमित चेतना की प्राप्ति करना है जिसके माध्यम से असीमित सत् की अनुभूति सम्भव है और यह चेतना आत्म-ज्ञान एवं आत्मानुभूति के द्वारा अपने ही सत्य को पुन: पूर्ण करना है। सीमित वस्तुयें असीमित चेतना और असीमित आनन्द के उपादान एवं साधन हैं, जिनका उपयोग मानव अपने अभिव्यक्तीकरण के लिए करता है। परन्तु इस निष्कर्ष पर पहुंच जाने पर भी कि सम्पूर्ण जगत् सच्चिदानन्द ही है, सब कुछ स्पष्ट नहीं हो जाता है। जगत् को यथार्थ रूप में जानने के पश्चात् भी यह जानना शेष ही रह जाता है कि किस प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने को विभिन्न पदार्थों में अभिव्यक्त करता है। श्री अरविन्द का कहना है कि सच्चिदानन्द किसी शक्तिशाली अधिनायक की भांति बिना किसी उत्तरदायित्व के केवल अपनी आज्ञा को उच्चारित करके जादू से विश्व का निर्माण नहीं करता है अपितु उसका एक नियम है। जब हम इस नियम की व्याख्या करते हैं तो यह विश्व शक्ति की क्रीड़ा के सन्तुलन के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार विश्वीय चेतना में एक स्व-निर्णायक शक्ति है जो अपने आप में किसी सत्य का आलोकन करती है और साथ ही

---

२. ' . .. . it is one existence, one force, one delight of being which concentrates itself at various points, says of each 'this is I ' and works in it by a various play of self-force for a various play of self-formation." वही, पृ० ११२

साथ अपनी रचनात्मक शक्ति को उस सत्य के साथ निर्देशित करती है और लौकिक अभिव्यक्तीकरण का नेतृत्व करती है ।

वैदिक द्रष्टाओं ने इस शक्ति को माया कहकर व्यक्त किया है । श्री अरविन्द ने माया को वैदिक अर्थ में ही लिया है । 'उनके लिए (वैदिक द्रष्टाओं) माया का अर्थ था अनन्त चेतना की वह शक्ति जो अनन्त सत् के बृहत् असीम सत्य को अपने अन्दर धारण करती है, अन्तर्विष्ट रखती है और उसका परिमापन करती है अर्थात् उसमें से नाम-रूप का निर्माण करती है क्योंकि रूपायित करना ही परिसीमित करना है'[3]। इस प्रकार श्री अरविन्द के मत में माया परमसत्य सच्चिदानन्द की एक शक्ति है और विश्व उसकी एक लीला या खेल है । माया परमसत्, जिसमें सब कुछ विद्यमान है, से वस्तुगत तत्त्वों का सृजन करती है । उसका 'एक से अनेक का रूप धारण करना, सत् का सत् के साथ, चेतना का चेतना के साथ, शक्ति का शक्ति के साथ और आनन्द का आनन्द के साथ क्रीड़ा के लिए होता है ।[4] प्रत्येक में सब और सब में प्रत्येक की यह क्रीड़ा मानसिक अथवा माया के भ्रम के कारण मानव से तिरोहित हो जाती है और ऐसा भासित होता है कि वह सब में है

---

३. '. . . . Māyā meant for them the power of infinite consciousness to comprehend, contain in itself and measure out, that is to say, to form —— for form is delimitation.'
वही, पृ० १२५-२६

४. '. . . . . . . all is in each and each is in all for the play of existence with existence, consciousness with consciousness, force with force, delight with delight.'
वही, पृ० १२६-२७

किन्तु सब उसमें नहीं है और साथ ही साथ उसका सब में होना भी अतिरिक्त तत्व के रूप में होता है, न कि ऐसे तत्व के रूप में जिसमें अन्य वस्तुयें सत् से अपृथक् हों। माया अपने निम्न स्तर में ईश्वर की एक ऐसी शक्ति है जिसमें ईश्वर अपने आप को उसी शक्ति के नियंत्रण में छोड़ देता है, जो शक्ति उसी से निकली हुई है और उस शक्ति के तमस से अपने आप को तिरोहित होने देता है। अतएव वह अनेक प्रकार के विभाजन, अन्धकार, इच्छा, संघर्ष एवं कष्ट से ग्रसित होता है और अनेक प्रकार के क्रीड़ाओं को आलिंगित करता है। इन सब क्रियाकलापों का सम्पादन करती हुई मायक जिस कारण से सर्वप्रथम परमसत् से बहिर्गमित हुई थी, उन सब को प्रकाशित करती हुई उन्हें अपने आप में लीन करती है। इस प्रकार परमतत्व की चेतन शक्ति माया वास्तविक तत्वों को ही अभिव्यक्त करती है। अत: श्री अरविन्द के अनुसार जगत् माया या भ्रम मात्र नहीं है[4]। यहां स्पष्ट है कि उनका यह मत शांकर अद्वैत वेदान्त के विपरीत है।

चेतन तत्व समस्त रूपवान वस्तुओं को आश्रय देता है और अपने को उनमें अभिव्यक्त करता है। मनस्, जीवन एवं शरीर चेतना के निम्नस्तर हैं। इनका उदय विभिन्न प्रकार के विकास द्वारा अपनी ही उच्चतर अभिव्यक्ति तक पहुंचने का प्रयत्न करना है। परन्तु यह उच्चतर अभिव्यक्ति मनस् के परे है। माया जन्य मनस् अपनी अवस्थाओं में उसे अनुभव करने का प्रयत्न करता है। माया के कारण सीमित मनस् परमसत् को जान नहीं सकता। असीमित चेतन सर्वप्रथम अपने को ज्ञान की असीमित शक्ति अथवा सर्वज्ञ के रूप में परिवर्तित

----

4. '. . . . . . The world is therefore not a figment of conception in the universal Mind, but a conscious birth of that which is beyond Mind into forms of itself.'

वही, पृ० ११६-१७

करता है । परन्तु मनस् को सर्वज्ञता के साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है । यह ज्ञान को खोजने की एक शक्ति है । अतएव यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि मनस् एक ऐसी शक्ति है जिसके माध्यम से विश्वीय सत्ता को व्यावहारिक प्रयोग के लिए कुछ सीमा तक विश्लेषित किया जा सकता है ।

किन्तु यदि हम असीमित मनस् की कल्पना करें जो कि हमारी सीमाओं से परे हो तो उसे कम से कम विश्वद्रष्टा के रूप में स्वीकार किया ही जा सकता है । परन्तु श्री अरविन्द के मत में ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा मनस् विभिन्न प्रकार के सीमित सम्बन्धों से युक्त मनस् से पृथक् होगा । यह असीमित, सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होगा और यह मनस्, मनस् न होकर पारमार्थिक ज्ञान होगा ।

वास्तव में मनस् एक दर्पण के समान है जो पहले से ही अस्तित्ववान् वस्तुओं की प्रतिमायें प्राप्त करता है और अपने को उनके अनुरूप दिखलाता है । साथ ही साथ यह वस्तुओं की सम्भावित प्रतिमाओं को वस्तुओं में प्रस्तुत वास्तविक तथ्यों से पृथक रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकता है । परन्तु यह वस्तुओं के यथार्थ रूप को जानने में असमर्थ होता है । इस प्रकार यदि हम असीमित मनस् की कल्पना करें तो वह मनस् एक ऐसे विश्व की रचना कर सकेगा जिसका आकार क्षणिक, अनिश्चित एवं सीमित होगा, वह ऐसी वस्तुओं की रचना कर सकेगा जो न तो निश्चित होगी और न अनिश्चित, न सत् होगी न असत् । श्री अरविन्द के अनुसार शून्यवाद एवं भ्रमवाद आदि दार्शनिक मान्यतायें ऐसी ही कल्पनाओं पर आधारित हैं.।

जिस समय मानव ज्ञान की मौलिक शक्ति, जो कि मनस् से उच्च होती है, को प्राप्त कर लेता है, उस समय विश्व की उपरोक्त विचार-

धारा अपूर्ण एवं अप्रमाणिक प्रतीत होती है । यद्यपि इसमें सत्य होता है किन्तु इसका वह सत्य पूर्ण एवं मौलिक सत्य नहीं होता । जहां तक तर्क का प्रश्न है, यह भी हमारी मानसिक विचारधारा का ही रूप है । यह अपने से परे अद्वितीय चेतन का सन्देशवाहक प्रतिनिधि अथवा छायामात्र है । अद्वितीय चेतन को तर्क की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह सब कुछ है और वह उन सब कुछ को जानता है जो वह है ।[६] इस प्रकार तर्क भी विश्वीय नियमों के भीतर कार्य करने वाले ज्ञान की भांति अपूर्ण एवं अनेक प्रकार की कमियों से युक्त है । किन्तु तर्क का जब समापन होता है और आत्मा की गहराई में अथवा ऐसे रहस्य में प्रवेश किया जाता है, जहां मानसिक क्रियायें स्थिर होती हैं, तो ऐसी स्थिति में उच्च चेतना अपने यथार्थ रूप में प्रकट होती है । इस अवस्था में उन सब का प्रकाशमय ज्ञान होने लगता है जिसे तर्क के धुंधले प्रकाश में अनिश्चित रूप से देखा गया था[७] ।

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य ज्ञान की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लेने पर भी पूर्णरूप से साधारण मानव से भिन्न नहीं हो जाता है । यद्यपि ऐसा लगता है कि उच्चतम ज्ञान को प्राप्त मनुष्य बहुत ही उच्च स्थान पर आसीन होता है किन्तु यह स्थान हमारे समकक्ष के ही बीचों द्वारा

---

६. '. . . . . . Reason is only a messenger, a representative or a shadow of a greater consciousness beyond itself which does not need to reason because it is all and knows all that it is.' वही, पृ० १२०

७. '. . . . .knowledge waits seated beyond mind and intellectual reasoning, throned in the luminous vast of illimitable self-vision.' वही, पृ० १२०-२१

प्राप्त स्थान है और यह मानव द्वारा प्राप्य है । हम शनैः शनैः अपने ज्ञान में वृद्धिकर इस शिखर पर अतिमानस के अनुभव की प्राप्ति तक निवास करते हैं । परन्तु इस अवस्था में भी मनुष्य के पतन की संभावना रहती है । इस पतन से बचने के लिए पतन के द्वारों को नष्ट करना पड़ता है । ज्ञान की इस उच्चतम शिखर पर निवास करना मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य एवं आदर्श है । इस लक्ष्य में मनुष्य आत्म-विनाश की खोज न कर आत्म-पूर्णता की खोज करता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या मनस् द्वारा उच्चतम ज्ञान का उल्लेख किया जा सकता है ? निःसन्देह यदि दोनों में विरोध है तो मानवीय विचारों द्वारा उच्चतम ज्ञान के विषय में कुछ भी कहना सम्भव न होगा । इस अवस्था में सांसारिक कार्यों के लिए उच्चतम प्रकाश एवं शक्ति की उपलब्धि असम्भव होगी । श्री अरविन्द का कहना है कि चूंकि यह चेतना की ही उपलब्धि है अतएव इसे केवल ज्ञानमात्र न होकर ज्ञान की शक्ति भी होना चाहिए[८]। मनस् भी इसी से प्रादुर्भूत हुआ है । अतः मनस् अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर अपने उत्थान में बढ़ी हो सकता है । मनस् के लिए यह सम्भव है कि वह अपने से परे चेतना के किसी स्तर तक उठकर अपने पारमार्थिक चेतना के शोधित प्रकाश अथवा शक्ति को प्राप्त कर ले और साथ ही साथ यह अनुभव करे कि प्रकाश, अन्तरात्मा एवं प्रत्यक्ष अनुभव के अधीनस्थ रहना तथा इनके द्वारा देखना एवं कार्य करना एक विषय है जो अभी तक मनुष्य द्वारा सम्भव नहीं की जा सकी है ।

---

८. ' . . . . .But since this consciousness is creatrix of the world, it must be not only state of knowledge, but power of knowledge ....' वही, पृ० १३३

ऊपर, पारलौकिक चेतना शाश्वत रूप से स्थित एवं अपरिवर्तनीय है । नीचे, यह परिवर्तनीय एवं अनेक है । इसे अपने परमसत्ता का ज्ञान है । यह नानात्व की सृष्टि करता है किन्तु नानात्व में अपने को विलीन नहीं करता है । परन्तु इन तथ्यों का आकलन करना कठिन है । हम परमसत्ता को सत्, चित् एवं आनन्द तीनों के माध्यम से जानते हैं । परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या उसके लिए तीन स्तर वाला होना सम्भव है ? यहां भी अरविन्द का कहना है कि जो सत् है, वही चित् है और जो चित् है वही आनन्द भी है । अतएव सत्, चित् एवं आनन्द को पृथक्-पृथक् देखना भ्रान्ति है । वास्तव में, इनमें भेद नहीं किन्तु अभेद है ।

मायाजन्य मनस् विभिन्नतापूर्ण अनेकता को ही सत् के रूप में ग्रहण करता है । अतः उपरोक्त स्थिति, जिसमें अभेद का दर्शन किया जाता है, से मनस् की स्थिति पृथक् है क्योंकि परम एकता एवं पूर्ण असीमितता मनस् की सीमा के परे है । इस प्रकार मनस् एवं उच्चतम ज्ञान (अतिमनस्) विरोधी रूप में सामने आते हैं । इस विरोध के समाधान के सम्बन्ध में भी अरविन्द का कहना है कि यदि हम अनुभव करें कि मनस् केवल चेतना का पूर्व रचनात्मक प्रारूप है तो इस समस्या का समाधान हो जाता है । मनस् केवल संश्लेषण एवं विश्लेषण का एक साधन है न कि मुख्य ज्ञान । इस प्रकार मनस् केवल अंशों के विषय में जान सकता है । इसकी पहुंच पूर्ण के विषय में नहीं है । जब तक मनस् पूर्ण प्रकाश अथवा उत्क्रमण के शिखर तक नहीं पहुंच जाता तब तक अन्धकारपूर्ण चेतनता की अन्धमूलप्रवृत्तियों, अव्यवस्थित अन्तरात्माओं एवं व्यर्थ के प्रत्ययों को प्रकाशित करता है । इस प्रकार मनस् एक मार्ग है, न कि उच्चतम प्राप्य स्थान[६] । अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर मनस् जब सम्पूर्ण

---

६. '.........Mind is a passage, not a culmination.'
वही, पृ० १२७-२८

विश्व को पारमार्थिक सत् से उत्पन्न उसी में देखता है तो यह उसकी अतिमानस की अवस्था होती है । ब्रह्म का बृहत् आत्मविस्तार ही अतिमानस है और अतिमानस ज्ञान द्वारा सत्, चित् एवं आनन्द का विकास करता है । यह इनको पृथक् करता है न कि विभाजित ।[10]

मानसिक धरातल पर ज्ञान की चेतना, इच्छा की चेतना से पृथक् होती है । किन्तु अतिमानस वाले प्राणी में ज्ञान एवं इच्छा की चेतना एक दूसरे से पृथक् नहीं होती है । मानसिक धरातल पर मिलने वाली अनेकतायें अतिमानस स्तर पर नहीं मिलती हैं । अतिमानस एकता से आरम्भ करता है, विभाजन से नहीं । इसके लिए विभिन्नतायें गौण कार्य हैं । अतिमानस की महान चेतना में एक विचार का दूसरे विचार से, एक इच्छा या शक्ति का दूसरी इच्छा या शक्ति से संघर्ष नहीं होता है । इसके विचारों एवं इच्छाओं में परस्पर विरोध की सम्भावना नहीं है ।

इस प्रकार श्री अरविन्द का कथन है कि तत्व, चेतना, इच्छा एवं शक्ति की दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण वस्तुयें एक हैं, फिर भी इनमें विभिन्नता की असीमित क्षमता है जिसके द्वारा विस्तार को प्राप्त करके भी वह अपनी एकता को नष्ट नहीं होने देता है । अद्वैतवेदान्त का यह मत कि नानात्व भ्रम है और मायाजन्य है, श्री अरविन्द को मान्य नहीं है । उनके अनुसार विश्वीय वस्तुओं में अन्ततः एकता ही है ।[11]

---

१०. '....It establishes a Trinity, not arriving like the Mind from the three to the one but manifesting the three out of the one,——for it manifests and develops-and yet maintains them in the unity- for it knows and contains.' वही, पृ० १२८-२९

११. '......Therefore, always, in all mutations and combinations a self- existent and inalienable harmony.' वही, पृ० १३१

श्री अरविन्द द्वारा मायावाद की आलोचना

जहां तक किसी सिद्धान्त के तार्किक पक्ष का प्रश्न है, मायावाद के टक्कर का सिद्धान्त, प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में दुर्लभ है। फिर भी, शंकरोत्तर दार्शनिकों ने मायावाद की अयथावत् व्याख्या की एवं अपने मतानुसार उसकी आलोचना भी की। फलत: मायावाद विशेष रूप से आलोचना का चर्चित विषय बन गया। श्री अरविन्द ने भी मायावाद का खण्डन करने में तनिक भी कोर कसर न उठा रखा। उनके द्वारा मायावाद के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियां उनकी पुस्तकों, उपदेशों एवं पत्रों में यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। यहां उन आलोचनाओं को एक व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

श्री अरविन्द अद्वैतवेदान्त के ब्रह्म की सर्व-सत्ता-सम्पन्नता को स्वीकार करते हैं। किन्तु सर्व-सत्ता-सम्पन्न होते हुए भी उससे सृजित जगत् को माया, भ्रम या भ्रान्ति कहना अथवा ब्रह्म का जगत् से पूर्णत: विपरीत होते हुए उसका जगत् से पूर्णत: परे होना कहना .... इत्यादि अद्वैत विचार-धाराओं से वे असहमत हैं। उनका कहना है कि विश्लेषणोपरान्त मायावाद में अनेक कठिनाइयां आ जाती हैं। व्यावहारिक अनुभव एवं पारमार्थिक अनुभव में सम्बन्धाभाव का होना, पारमार्थिक सत् का निर्गुण, निर्विशेष, निरपेक्ष होते हुए साकार, सापेक्ष एवं सीमित जगत् से पृथक् बताना, जड़ जगत् एवं ब्रह्म को तम: प्रकाशवत् विरुद्ध धर्मयुक्त कहना—आदि इसी प्रकार की कठिनाइयां हैं। श्री अरविन्द के घोर समर्थक एवं अनुयायी डा० इन्द्रसेन का कहना है कि मायावाद जिसके सहारे शंकराचार्य जगत् को भ्रम या माया होना सिद्ध करते हैं, भौतिकीय व्यवहार का ही अंश होने के कारण स्वयं भी भ्रम या माया के

अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[१२]

पुनश्च, डा० चन्द्रसेन का कहना है कि आधुनिक दर्शन-शास्त्र अनुभव को ही आधार मानकर आगे बढ़ता है। श्री अरविन्द तो सीमित अनुभव की बात करते हैं परन्तु शंकराचार्य व्यावहारिक ज्ञान को भ्रमपूर्ण बताते हैं। डा० चन्द्रसेन के अनुसार अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म एवं जगत् का जो स्वरूप एवं सम्बन्ध निरूपित किया गया है, वह व्याघातपूर्ण है। उसमें अनेक कमियां हैं। उनके अनुसार अद्वैतवेदान्त ब्रह्म को निर्विकार एवं शुद्धचैतन्मय तथा जगत् को साकार एवं जड़ बताकर उनके पारस्परिक सम्बन्धों को मूलतः समाप्त कर देता है। श्री अरविन्द का कहना है कि शंकराचार्य द्वारा परमतत्व को सर्व-सत्तासम्पन्न स्वीकार करते हुए भी उसे साकार में अभिव्यक्त होने की शक्ति से रहित मानना तर्क एवं न्याय संगत नहीं है। यही कारण है कि अद्वैतवेदान्त की दार्शनिक मान्यतायें अपूर्ण एवं भ्रममूलक हैं।[१३]

पुनश्च, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि ब्रह्म ही

---

१२. "The world, which is the real of limitation, is a sheer illusory superimposition ~~mm~~ on Brahman. It is simply non-existent. The illusion itself is illusory."

— फिलासफिकल क्वार्टर्ली, १९४४, पृ० ७४

१३. "The various analogies used by the Advaitist philosophers to show the relation of the world to Brahman involve confusion between certain facts of experience. They all involve, at the last instance, an error of relation or mis relation between facts." वही, पृ० ७५

एकमात्र 'निरपेक्ष' सत् है और इसलिए यह सापेक्ष' जगत् अवश्य ही मिथ्या अथवा भ्रम होगा, तो इस कथन से यही स्पष्ट होता है कि निरपेक्ष ब्रह्म के सम्बन्ध में शंकराचार्य की धारणा सीमित है क्योंकि परमतत्व न तो सत्ता-रहित शून्य हो सकता है और न पूर्णतया गतिहीन। फिर प्रश्न उठता है कि जगत् को क्या कहा जाय ? शंकराचार्य इसे न तो ब्रह्म सदृश सत् कहना उचित समझते हैं और न पूर्णतया असत् ही। इसलिए इसे माया कहते हैं- अर्थात् यह अनिर्वचनीय है। कहने का तात्पर्य यह है कि मैं इसकी व्याख्या कर सकने में असमर्थ हूं। 'इसके समर्थन में कोई चाहे कितना ही शब्द-जाल या तर्क-जाल रच ले, वास्तव में मायावाद कुछ भी व्याख्या नहीं कर पाता; यह केवल अनिर्वचनीय का एक मानसिक सूत्र है। उसके लिए अनन्त की शक्ति केवल भ्रमात्मक शक्ति बन जाती है और यह विश्व अनवधारणीय रह जाता है — विश्वव्यापी पागलपन का एक रहस्य-अनन्त की शाश्वत मूर्छना बनी रहती है।'[१४]

श्री अरविन्द शंकराचार्य के इस मान्यता का भी खण्डन करते हैं कि जगत् मिथ्या अथवा माया का खेल है। उनके अनुसार अनुभवगम्य वस्तुओं का निषेध नहीं किया जा सकता है। अनुभव ही भ्रम अथवा सत्यता का आधार है; अतः जिस जगत् का अनुभव किया जा रहा है उसे माया अथवा मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? सम्भवतः इसी समस्या के समाधान के लिए शंकराचार्य को व्यावहारिक जगत् की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। परन्तु व्यावहारिक जगत् की सत्ता स्वीकार करते हुए भी शंकराचार्य ने इसे असत् अथवा मिथ्या ही कहा। उनका कहना है कि जिस प्रकार जाग्रतावस्था के

---

१४. श्री अरविन्द पाठ मन्दिर ऐन्युअल, १९४५, पृ० २०२

पूर्व तक स्वप्नावस्था की वस्तुओं का अस्तित्व होता है किन्तु जागने के पश्चात ही स्वप्नावस्था की वस्तुओं का अस्तित्व नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार परमतत्व की अनुभूति होने के पूर्व तक ही व्यावहारिक जगत् का अस्तित्व है। पारमार्थिक जगत् का ज्ञान होते ही व्यावहारिक जगत् असत् या मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यहां श्री अरविन्द का कहना है कि व्यावहारिक वस्तुयें अनुभव-गम्य हैं और अनुभव ही असत् एवं सत् का आधार स्तम्भ है। अतएव अनुभवगम्य जगत् को माया अथवा मिथ्या कहना बुद्धि संगत नहीं प्रतीत होता है।

पुनश्च, यदि जगत् को माया अथवा मिथ्या माना जाता है तो ब्रह्म के साथ-साथ माया की भी सत्ता अवश्य होगी[१५]। इसके उत्तर में यदि अद्वैतवेदान्त की ओर से यह कहा जाय कि अज्ञान तक ही माया का अस्तित्व रहता है और ज्ञान प्राप्त होते ही माया का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता रह जाती है; तो इसको स्वीकार करते हुए श्री अरविन्द के अनुयायियों का कहना है कि मायावाद में अनेक प्रकार की कमियां इस बात की सूचक हैं कि उसमें न्यूनाधिक मात्रा में विरोध अवश्य है और इसका बुद्धि संगत समाधान अद्वैतवेदान्त की ओर से नहीं दिया जा सकता है। इन विरोधों का समाधान श्री अरविन्द के मत में समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाने पर ही सम्भव है। वास्तव में ब्रह्म सम्बन्धी सभी विचारधारायें उसके एक अंग को लेकर चलती हैं। पूर्ण द्रष्टा मनीषी ही उनमें समन्वय स्थापित कर सकता है। डा० इन्द्रसेन ने श्री अरविन्द को इसी प्रकार का समन्वयवादी द्रष्टा कहा है। वे श्री अरविन्द के दर्शन में ही शांकरवेदान्त के विरोधों का शमन सम्भव मानते हैं[१६]।

---

१५. '........If the world is an illusion, then the illusion in some sense is.'

फिलासफिकल क्वार्टली, १९४५, पृ० ८१

16. '........Sri Aurobindo's philosophy has been illuminating not only in that that it presents a satisfying view of life and existence by itself, but also in that that it reconciles and offers convincing relative justifications for other important philosophical systems.' वही, पृ० ८२

पुनश्च, श्री अरविन्द के अनुसार 'शांकरदर्शन में एक संघर्ष, एक विरोध विद्यमान है, जिसे शंकराचार्य की शक्तिशाली बुद्धि ने अन्तिम रूप से हल न करके पूरे शक्ति के साथ व्यक्त और चमत्कारिक रूप से विन्यस्त ही किया है। इस संघर्ष में एक ओर वह सम्बोधि है जिसे एक निर्विशेष, तुरीय तथा अंतरतम 'सद्वस्तु' का प्रगाढ़ भान है और दूसरी ओर एक सबल मानव बुद्धि है जो जगत् को तीक्ष्ण एवं ओजस्वी यौक्तिक बुद्धि से देखती है।[१७] लेकिन शंकराचार्य का ब्रह्म को शुद्ध अनभिव्यक्त सत् मानना ठीक नहीं है। ब्रह्म निराकार होकर भी साकार रूप में अभिव्यक्त होता है। अतएव ब्रह्म के साथ ही जगत् की भी सत्ता तर्क सिद्ध है। जब हम जगत् के परे सत् की ओर अभिमुख होते हैं तो भी जगत् की सत्ता रहती ही है, यद्यपि चेतना के लिए जगत् की सत्ता अधिक समय तक अपेक्षित नहीं होती। शनैः शनैः जब ज्ञान अनावरण को प्राप्त हो जाता है तो चेतना में एकमात्र ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है और जगत् भी उसी में समाहित रूप में दिखायी पड़ता है। इसीलिए जगत् को असत् कहा गया है। वस्तुतः ब्रह्म-ज्ञान होने पर भी जगत् का अस्तित्व नष्ट न होकर और दृढ़ रूप में ब्रह्म में अवस्थित उसी का अभिव्यक्तीकरण सा दृष्टिगोचर होता है .... यही श्री अरविन्द की धारणा है।

---

१७. 'In the philosophy of S'ankara one feels the presence of a conflict, an opposition which this powerful intellect has stated with full force and masterfully arranged rather than solved with any finality— the conflict of an intuition intensely aware of an absolute transcendent and inmost reality and a strong intellectual reason regarding the world with a keen and vigorous rational intelligence.'
—द लाइफ डिवाइन, पृ० ४५१-५२

अद्वैतवेदान्त जगत् को अनिर्वचनीय मानता है और साथ ही साथ इन्द्रियों एवं तर्क से दृष्ट एवं प्रमाणित जगत् को असत् कहता है। यहां डा० चन्द्रसेन का कहना है कि शंकराचार्य इससे आगे का एक डग और न भर सके, जोकि एक एकता का स्थान है, जिसके अनुसार निर्गुण ब्रह्म आत्म-विकसित एवं आत्माभिव्यक्त पूर्ण सत् की एकता में अवलोकित है। यह एक एकता ही सभी अस्तित्वधारियों की अन्तरात्मा का सर्वस्व है।[१८]

श्री अरविन्द का कहना है कि सत्ता की समस्त समस्यायें वास्तव में समन्वय की समस्यायें हैं। समन्वय उनके दर्शन का स्वयं-सिद्ध सिद्धान्त है। सम्पूर्ण विश्व समन्वित रूप में पूर्ण सत् है। यह पूर्ण सत् अनन्त, निर्विशेष एवं अनन्त सत् है। चूंकि वह निर्विशेष एवं अनन्त है, अत: वह स्वरूपत: अनिर्देश्य है। अत: वह सान्त और निर्वचन करने वाले मन-बुद्धि के द्वारा अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। वह मानस-निर्मित भाषा से अकथनीय है। श्री अरविन्द का अद्वैतवेदान्त के विरुद्ध यह प्रबल आक्षेप है कि परमतत्व का 'नेति-नेति' द्वारा भी वर्णन सम्भव नहीं है क्योंकि हम उसे यह कहकर सीमित नहीं कर सकते कि वह न यह है, न वह है। 'इति इति' रूप में उसका भावात्मक वर्णन भी सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा कहने से उसमें किसी विशिष्ट गुण या विशेष बोध द्वारा परिच्छिन्नत्व आ जायेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि

---

१८. '........Sri Aurobindo emphatically affirms involves a vision of the integral Reality, the Nirguna Brahma and the world perceived in the unity of a self-evolving and self-revealing Absolute. The integral unity of total existence is the essence of his intuition.'
फिलासोफिकल क्वार्टर्ली, १९५४, पृ० ८३

ब्रह्म मन या बुद्धि की किसी भी अवस्था के द्वारा ज्ञेय नहीं है । वह इनसे अभिन्न है, इस दृष्टि से वह स्वतः प्रमाणित है और ज्ञान की अतिमानसिक अवस्था द्वारा ज्ञेय है[१९] । तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक सत् ऐक्य ज्ञान का विषय एवं विशुद्ध आत्मा द्वारा अनुभूत है । यह पारमार्थिक सत् ही श्री अरविन्द का ब्रह्म है । अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि चूंकि ब्रह्म नित्य, शाश्वत, अनन्त, सर्वव्यापी एवं विभु है, अतः अनित्य, सीमित तथा परिवर्तनशील जगत् को सत्य कैसे माना जा सकता है, तो इसके उत्तर में श्री अरविन्द का कहना है कि इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जगत् का सबकुछ ब्रह्म ही है क्योंकि वह सर्वव्यापी है । सभी कुछ वास्तव में नित्य एवं शाश्वत है यद्यपि वे अनित्य एवं सीमित प्रतीत होते हैं । हमें चाहिए कि हम प्रतीतियों की गहरायी तक जांय न कि प्रतीतियों को माया अथवा मिथ्या कहकर समस्या से दूर हट जांय । हमें यह समझना होगा कि वस्तुओं, व्यक्तियों अथवा घटनाओं में नानात्व के होते हुए भी सब वास्तव में ब्रह्म ही है । इस दृष्टि के विकसित होने पर हम सम्पूर्ण सांसारिक वस्तुओं को सर्वप्रथम एकत्व ब्रह्म-दृष्टि से देखेंगे, फिर अनेकत्व के रूप में । इस अवस्था में बने रहने का नाम ही मुक्ति है । इसके लिए ब्रह्म को सर्वव्यापी अपार चैतन्य के रूप में अनुभव करने के पश्चात हमें और भी आगे ब्रह्म-ज्ञान का विकास करना है । जब उस अपार, अनित्य परमतत्व को पार, कालिक जगत् में गतिशील दैवीशक्ति के रूप में समझ सकें तभी ब्रह्म-ज्ञान पूर्ण हो सकता है ।

जगत् को सत्य कहने के विरुद्ध सबसे बड़ी कठिनाई यही हो सकती है कि यदि यह मान लिया जाय कि जगत् में अज्ञान है तो फिर इसे परब्रह्म की सृष्टि कैसे कहा जा सकता है ? श्री अरविन्द का उत्तर है कि

----

१९. द लाइफ डिवाइन, पृ० ३२२

जगत् और उसकी अपूर्णता के होते हुए भी जगत् निर्माण में एक प्रयोजन परिलक्षित होता है । चेतना के विभिन्न स्तर दिखायी पड़ते हैं — निःश्चेतन जड़ से क्रमशः अधिक से अधिक चेतना की अभिव्यक्तियां विभिन्न जीवधारियों में स्पष्ट है । इस अवस्था में जगत् को प्रयोजनहीन माया अथवा मिथ्या कहने की अपेक्षा क्या यह कहना अधिक समीचीन नहीं है कि इस सृष्टि तथा विकास को एक ही पारमार्थिक सत्ता का आत्म-विस्तार और आत्म-निर्धारण मानें ? इस सम्बन्ध में डा० चन्द्रसेन का मत है कि निःसन्देह ब्रह्म में आत्म-निर्धारण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । जगत् को पूर्ण सत् से पृथक् नहीं बल्कि उसके आत्म-निर्धारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।[२०]

शंकराचार्य जगत् की रचना के सम्बन्ध में दो शक्तियों का उल्लेख करते हैं — आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति । ये दोनों ही ब्रह्म की शक्तियां हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है । विक्षेप शक्ति से ब्रह्म अपने को विक्षिप्त करके इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है । श्री अरविन्द का आक्षेप है कि यदि यह ब्रह्म की वास्तविक शक्ति है तो फिर जगत् को माया अथवा मिथ्या कैसे माना जा सकता है ?

पुनश्च, अद्वैतवेदान्त के भ्रमसिद्धान्त-अनिर्वचनीय ख्याति पर भी आक्षेप करते हुए श्री अरविन्द का कहना है कि भ्रमावस्था में आरोपित

---

२०. 'surely self-determination cannot be denied to Brahman and the world being not outside the total reality the world can only be conceived as the result of Brahman's self-determination.'

— फिलासफिकल क्वार्टर्ली, १९४४, पृ० ८८-८९

वस्तु न तो असत् है और न अनिर्वचनीय ही । वह स्मृति रूप संस्कार है जो अन्यत्र कहीं सत् है परन्तु वर्तमान में सत् नहीं है । यदि सर्प असत् होता तो उसका अध्यारोप भी सम्भव न होता । अतः सर्प अन्यत्र अवश्य ही सत् है परन्तु उसका रज्जु में जो अध्यारोप है वह मिथ्या है ।

जगत् को सत् सिद्ध करने के लिए श्री अरविन्द ने भ्रम-सिद्धान्त का आश्रय लिया है । यदि यह मान लिया जाय कि जगत् केवल मानसिक संस्कारों की उपज है तो फिर प्रश्न उठता है कि मानसिक संस्कारों का स्रोत क्या है ? श्री अरविन्द का कहना है कि यदि जगत् असत् है तो मानसिक संस्कार हो ही नहीं सकते । मानसिक संस्कारों का कारण वास्तविक जगत् की वस्तुयें हैं । अतएव जगत को वास्तविक मानना अनिवार्य है ।

पुनश्च, यदि जगत् माया या मिथ्या है जैसाकि अद्वैत-वेदान्ती मानते हैं तो मनुष्य का उद्देश्य शीघ्रातिशीघ्र उससे निकल भागना ही होगा । वास्तव में जगत् की विभिन्न वस्तुयें उस ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूप में केन्द्रीकरण का परिणाम हैं, यद्यपि पृथक् रूप में उसकी सत्ता अपूर्ण एवं अज्ञानता पूर्ण है । इसीलिए श्री अरविन्द ने शंकराचार्य के समान ब्रह्म को सर्वव्यापी, सर्वसत्तासम्पन्न, निरपेक्ष, निराकार शक्ति एवं विभु मानने के साथ साथ उस पारमार्थिक तत्त्व को जगत् के रूप में भी अभिव्यक्त होने की क्षमता से युक्त माना है । अद्वैतवेदान्त में सर्वसत्तासम्पन्न होकर भी ब्रह्म जगत् के रूप में व्यक्त नहीं होता है, वह जगत् के रूप में अज्ञानता के कारण भासित होता है । ब्रह्म-ज्ञान होते ही जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है । इसके विपरीत श्री अरविन्द का कहना है कि पारमार्थिक सत् का ज्ञान होने पर जगत् असत् रूप में भासित न होकर और भी पूर्णता को प्राप्त कर, उसी में समाहित हुआ प्रतीत होता है ।

इस प्रकार श्री अरविन्द का निष्कर्ष है कि नामरूपात्मक जगत् माया या भ्रम या मिथ्या नहीं है । ब्रह्म के समान वह भी सत् है । परन्तु यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि क्या अद्वैतवेदान्त का मायावाद दोषरहित है ? इसका उत्तर `हाँ` और `न` दोनों में मिलता है । आध्यात्मिक सत् की विशेष अनुभूति की दृष्टि से मायावाद दोषरहित हो सकता है । इस अनुभूति में विभिन्नता एवं अनेकतापूर्ण जगत् भ्रम या माया सा-प्रतीत होता है । परन्तु इस अनुभूति के निमज्जित हो जाने पर मनुष्य सभी प्रकार के इन्द्रिय सम्बन्धों से विमुख हो जाता है । श्री अरविन्द के अनुसार जिस क्षण जीवन एवं सत्ता की ओर दृष्टिपात किया जाता है, मायावाद का सिद्धान्त अपूर्ण सा लगता है । परम सद्वस्तु स्वरूप ब्रह्म `वह` है जिसे जानने से सबकुछ ज्ञात हो जाता है (यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति) ; परन्तु मायावादी समाधान में वह `वह` है जिसे जान लेने पर सबकुछ असत्य और एक अबोध रहस्य हो जाता है।[21] अत: श्री अरविन्द का मत है कि मायावादियों द्वारा जगत् एवं जगतविषयक अनुभव की उपेक्षा करना उचित नहीं है । आधुनिक युग में जगत् विषयक अनुभव, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महानतायें किसी भी परिस्थित में उपेक्षित नहीं की जा सकती हैं । ये सब परमतत्व की अभिव्यक्ति होने के साथ ही साथ उस तक पहुंचने के मार्ग भी हैं । अत: जगत् को मिथ्या

----

२१. '.......The Brahman, the supreme Reality, is that which being known all is known, but in the illusionist solution it is that, which being known, all becomes unreal and an incomprehensible mystery.'

—द लाइफ डिवाइन, पृ० ४६६-७०

या भ्रम नहीं माना जा सकता है, फलतः मायावाद का सिद्धान्त समीचीन नहीं है[22]।

श्री अरविन्द की आलोचना की समालोचना

श्री अरविन्द के द्वारा शांकरवेदान्त के मायावाद की आलोचना के पश्चात यह स्वाभाविक है कि श्री अरविन्द द्वारा की गई आलोचना की भी वास्तविकता का परीक्षण किया जाय। शंकराचार्य के सम्पूर्ण दर्शन का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि उनका प्रत्येक कथन श्रुत्यानुगमित है। वह तर्क का आश्रय केवल श्रुतियों की महानता की रक्षा के लिए ही करते हैं। उपनिषदों में जगत् को असत् एवं एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गयी है। शंकराचार्य ने भी उपनिषदों का अनुकरण करते हुए जगत् को माया, मिथ्या या भ्रम तथा ब्रह्म को ही एक मात्र सत् कहा है। लेकिन जहां तक श्री अरविन्द द्वारा शांकरदर्शन के मायावाद के खण्डन का प्रश्न है, उसका परीक्षण करने से स्पष्ट होता है कि श्री अरविन्द द्वारा, जगत् सम्बन्धी विचारधारा के आधार पर, मायावाद का खण्डन करना समीचीन नहीं है। निःसन्देह श्री अरविन्द अद्वैतवेदान्त के अनुयायी हैं परन्तु शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य आदि के समान भाष्यकार नहीं हैं। उनका दर्शन पूर्ण

---

२२. 'Māyā- Vāda's uncompromising rejection of the world and experience is not understandable; its logic is too rigid and exclusive; and its negativist attitude towards individual life and the sum of human culture in general is too foreign to the pesent day outlook upon life and existence.'

_फिलासफिकल क्वार्टर्ली, १९४४, पृ० ६६

अनुभव और साधारण बुद्धि का अनुपम सामंजस्य है । वे एकमेव अद्वितीय पारमार्थिक सत् को मानते हैं । उनके अनुसार पारमार्थिक सत् ही एकमात्र परमसत् है । इस प्रकार ब्रह्म को एकमात्र परमसत्ता मानते हुए श्री अरविन्द जगत् को उसी से अभिव्यक्त हुआ, उसी में समाहित हुआ मानते हैं अर्थात् जगत् की ब्रह्म से पृथक् सत्ता शंकराचार्य की भांति इन्हें भी मान्य नहीं है । जगत् ब्रह्म में स्थित ब्रह्म ही है । जगत् तात्विक दृष्टि से उतना ही सत् है जितना सच्चिदानन्द स्वयं हैं । केवल इतना ही नहीं, जगत् सच्चिदानन्द रूप है — सच्चिदानन्द से अभिन्न है । शंकराचार्य ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया किन्तु नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् को मिथ्या या भ्रम या माया रूप में निरूपित किया । एकमात्र पारमार्थिक सत् को ही शाश्वत् सत् मानना तथा साथ ही साथ जगत् या किसी अन्य की सत्ता स्वीकार करना स्वयं अपने ही हाथों से अपने मत का उन्मूलन करना होगा और श्री अरविन्द ने जगत् को सत्ता प्रदान कर यही किया । यदि श्री अरविन्द की ओर से यह प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता मानकर जगत् को उसी में समाहित देखने पर उपर्युक्त विरोध का शमन हो जायेगा, तो भी इस उत्तर के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचना के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तब तो श्री अरविन्द शंकराचार्य के ही विचारों के पुष्टिकर्ता के रूप में प्रतीत होंगे, क्योंकि शंकराचार्य ने भी जिस जगत् को माया या भ्रम या मिथ्या कहा है, वह व्यावहारिक जगत् ही है । लेकिन यह बात ध्यान रखने योग्य है कि शंकराचार्य जगत् को बन्ध्या-पुत्र या आकाश-कुसुम की भांति असत् नहीं मानते हैं । जगत् को माया मानने का उनका अभिप्राय यही था कि वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है । पारमार्थिक रूप में जगत् ब्रह्म ही है । ब्रह्म ही सृष्टिकर्ता एवं प्रलय कर्ता है।[21] इस प्रकार

---

२१. 'तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम्, समन्वयात् ।' --ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, १. १. ४

शंकराचार्य जगत् को माया या भ्रम या मिथ्या एक विशेष अर्थ में ही मानते हैं। अतः श्री अरविन्द द्वारा मायावाद की आलोचना न्यायसंगत नहीं है।

पुनश्च, यह प्रश्न किया जा सकता है कि पारमार्थिक सत् की जगत् के रूप में अभिव्यक्ति का अभिप्राय क्या है ? क्या यह अभिव्यक्ति परमसत्ता के योग में अथवा मूल्य में वृद्धि का सूचक है ? यदि 'हाँ' तो इस वृद्धि के कारण परमसत्ता परमसत्ता न रह जायेगी क्योंकि परमसत्ता वही है जिसमें किसी भी प्रकार की अपूर्णता नहीं है, अतएव उसमें किसी प्रकार की वृद्धि भी सम्भव नहीं है। निःसन्देह परमसत्ता की जगत् में आत्माभिव्यक्ति उसमें कोई भावात्मक वृद्धि नहीं करती है। परन्तु इसका एक अभावात्मक अथवा निषेधात्मक मूल्य अवश्य है। इस आत्माभिव्यक्ति में परमसत्ता को अपने स्वरूप के अन्वेषण एवं परीक्षण का अवसर मिलता है। आत्म-तिरोधान का अभिप्राय है कि आत्मा अपनी अनुभूति खो चुकी है और आत्मानुभूति ही सत्ता की अनुभूति है। उसे खोने का अभिप्राय है सत्ता की अनुभूति को खोना। आत्मानुभूति खोने के पश्चात यह अनात्मा की अनुभूति हो जाती है। इस प्रकार की अनुभूति अद्वैतवेदान्त के अनुसार अज्ञान है। अद्वैतवेदान्त में यह अज्ञान मात्र भ्रम है किन्तु श्री अरविन्द इस आत्मतिरोधान को निश्चित रूप से वास्तविक मानते हैं और उसे परमसत्ता के जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थिति मानते हैं।[२४] इस प्रकार शांकर दर्शन के आधुनिक अनुयायी प्रो० मलकानी के अनुसार श्री अरविन्द का ब्रह्मवाद निरपेक्ष सद्वाद नहीं है और इसकी ब्रह्मवाद स्वाभिव्यक्ति के विरुद्ध है।

---

२४. "But while this Ajñāna is understood to be quite illusory, Sri Aurobindo's self-oblivion is evidently something quite real and a moment in the life of the Absolute."
फिलासफिकल क्वार्टर्ली, अक्टूबर १९५० -- जनवरी १९५१, पृ० ८६

पुनश्च, प्रश्न है कि क्या पारमार्थिक सत् में ही कुछ ऐसी चीज़ें हैं जो अभिव्यक्ति के लिए उसे प्रेरित करती हैं ? यदि परमसत्ता में ऐसी चीज़ें हैं जो अभिव्यक्ति के लिए उसे बाध्य करती हैं तो वे परमसत्ता में अभाव की द्योतक हैं । लेकिन परमसत्ता की अवधारणा पूर्णता की अवधारणा है । किसी भी प्रकार का अभाव उसकी अवधारणा के साथ सामंजस्य नहीं रख सकता । श्री अरविन्द का यह कथन कि जगत्-सृष्टि आनन्द की ही अभिव्यक्ति है अथवा सृष्टि का प्रयोजन आनन्द है, प्रो० मलकानी को मान्य नहीं है । उनके अनुसार 'आनन्द सृष्टि का कारण नहीं हो सकता है । सृष्टि का कारण आत्मपूर्णता के लिए आन्तरिक भावना द्वारा प्रेरित एक इच्छा है । इसके अतिरिक्त परमसत्ता की अभिव्यक्ति का अभिप्राय यह नहीं है कि वह अपने को वस्तुओं के माध्यम से अभिव्यक्त करे क्योंकि उस स्थिति में स्वाभिव्यक्ति न होकर आत्मच्छलन होगा ; या दूसरे शब्दों में आत्मा को अनात्मा समझना होगा अथवा सत् को असत् समझना होगा और ऐसी प्रतीति परमसत्ता को परमसत्ता ही न रहने देगी । प्रो० मलकानी का कहना है कि वास्तव में परमसत्ता को अभिव्यक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं है । उसकी अभिव्यक्ति तभी होती है जबकि वह अज्ञान से तिरोहित हो जाता है ।[२५]

श्री अरविन्द के आनन्द से आनन्द के लिए जगत् की रचना-सम्बन्धी विचारधारा को स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आनन्द से आनन्द के लिए ही जगत् की रचना हुई है तो सांसारिक

---

२५. "The real Absolute does not require to be manifested and can never be truly manifested; and when it is manifested, the Absolute is involved in an ignorance of itself or self-oblivion.'

वही, पृ० १६-१७

कष्टों की प्रतीति कैसे होती है ? भारत के सभी आत्मद्रष्टा ऋषियों तथा महापुरुषों ने यह स्वीकार किया है कि संसार दुःखमय है । तथाकथित सांसारिक सुख हमें अधिक दुःख में डालते हैं । दुःखों के कारण मानसिक कष्ट होता है और मानसिक कष्ट के कारण ही विभिन्न प्रकार के विचारों की उत्पत्ति होती है । दुःख का क्या कारण है ? दुःखों से छुटकारा कैसे मिल सकता है ? आदि बातों को ध्यान में रखते हुए अधिकांश दार्शनिकों ने इस जगत् को दुःखमय ही स्वीकार किया है । शंकराचार्य ने भी इस क्षणभंगुर संसार से छुटकारा पाने के लिए मोक्ष का उपाय खोज निकालने का पूरा-पूरा प्रयास किया है । अपने इस प्रयास में ही उन्होंने जगत् की व्यावहारिक सत्ता, जिसमें दुःखों की अनुभूति होती है, को मिथ्या बताया एवं इससे परे स्वमात्र पारमार्थिक सत् को ही शाश्वत् सत् माना । श्री अरविन्द ने संसार के सारे दुःख, कष्ट, पाप तथा अशुभ को विकास प्रक्रिया में उत्पन्न अस्थायी दशाओं के रूप में व्याख्या कर इस बात को सिद्ध किया कि दुःख का कोई भावात्मक अस्तित्व नहीं है । सीमित आनन्द का नाम ही दुःख है । सुख-दुःख व्यापक आनन्द में समाहित है । इसके अतिरिक्त, इन्द्रियानुभव तक ही सुख-दुःख की खण्डशः अनुभूति होती है । अतिमानस स्तर पर आनन्द की ही अबाधित एवं निर्विरोध अनुभूति होती है । अतः श्री अरविन्द की भी विचारधारा व्यावहारिक जगत् के असत् होने को ही एक प्रकार से स्वीकार करती है ।

पुनश्च, श्री अरविन्द का कहना है कि परमसत्ता में अनन्त सम्भावनायें हैं जो वास्तविक रूप धारण कर सकते हैं । अतः परमसत्ता में एक शक्ति होनी चाहिए जो सृष्टि रचना को सत्यता की ओर निर्देश दे । किन्तु प्रो० मलकानी यहाँ आपत्ति करते हैं कि वास्तविक अनन्त वह है जो अविभाज्य और सरल हो और ऐसा अनन्त अभिव्यक्त नहीं हो सकता क्योंकि वह नित्य सिद्ध होता है । माया सत्य को नापने की शक्ति नहीं है । वह



केवल असत्य नापती है और अनन्त अथवा असीम को सीमित कर देती है। सृष्टि-प्रक्रिया अध्यास प्रक्रिया है, सत्य का साक्षात्कार करने की प्रक्रिया नहीं है। अतएव श्री अरविन्द जब सृष्टि-प्रक्रिया को स्वयंप्रकाश की विधि बताते हैं तो वे अध्यास को ज्ञानमार्ग समझने की भूल करते हैं।[२६]

पुनश्च, जब जगत् की व्याख्या के लिए भी अरविन्द लीलावाद का सहारा लेते हैं तब प्रो० मलकानी का कहना है कि लीला के संप्रत्यय का भी परमसत्ता के संप्रत्यय के साथ मेल नहीं है क्योंकि यह परमसत्ता को एक संघर्षरत व्यक्ति बना देता है। यह पूर्णतः नृतत्त्वारोप है। हम परमसत्ता को पहले एक मनुष्य बना देते हैं और तब उसकी लीला की कल्पना करते हैं।[२७]

श्री अरविन्द के अनुसार एकत्व की सत्यता अपने को अपनी सत्ता के विभिन्न रूपों और शक्तियों की सत्यता में अभिव्यक्त कर रही है। नि:सन्देह उसकी प्रक्रिया में एक रहस्य है, यहां तक कि एक इन्द्रजाल भी; परन्तु यह दर्शाने वाला कुछ भी नहीं कि यह किसी अवास्तव का इन्द्रजाल ही है। बल्कि यह शाश्वत आत्म-ज्ञान द्वारा परिचालित आत्म-सृजन है।[२८] यहां प्रो० मलकानी का कहना है कि वास्तव में वस्तुस्थिति इसके

---

२६. वही, पृ० ६७

२७. वही, पृ० ६७-६८

5774-10
2068

२८. ". . . . . .. there is nothing nothing to show that it is a magic of the unreal . . . ." It is rather ' a self-creation operated by an eternal self-knowledge."

द लाइफ डिवाइन, पृ० ४३१-३२

विपरीत है । सारे इन्द्रजाल अवास्तव के इन्द्रजाल हैं ; अ-अस्तित्वान् को अस्तित्ववान् के रूप में दर्शाना है । निश्चित रूप से यदि कोई इन्द्रजाल है तो यही है । सामान्यतः यह कहा जाता है कि ईश्वर एक बड़ा जादूगर है और उसने एक ऐसे जगत् का सृजन किया है जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व ही नहीं है । यदि ईश्वर में जगत् किसी भी रूप में है और वह अपने को अभिव्यक्त करने के लिए इसमें कुछ करता है, तो उसे माया को नियंत्रित करने वाला बड़ा जादूगर नहीं माना जा सकता क्योंकि उस स्थिति में वह स्वयं माया की एक शक्ति बन जायेगा और उसे स्वयं परिवर्तन की प्रक्रिया में आना पड़ेगा ।[२६]

इस प्रकार सृष्टि को वास्तविक सिद्ध करने के लिए श्री अरविन्द आत्माभिव्यक्ति, अनन्त संभावना तथा लीला के संप्रत्ययों का सहारा लेते हैं और दावा करते हैं कि इन प्रत्ययों के साथ ब्रह्मवाद का पूरा मेल है । उनके इस दावे का प्रो० मलकानी खण्डन करते हैं और सिद्ध करते हैं कि इन संप्रत्ययों का ब्रह्मवाद से किसी भी प्रकार से मेल नहीं हो सकता है । वास्तव में श्री अरविन्द शंकराचार्य के ब्रह्मवाद के साथ सृष्टि की वास्तविकता का प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं । किन्तु जैसा कि प्रो० मलकानी ने दिखलाया है कि श्री अरविन्द का यह प्रयास अद्वैतमतानुसारी नहीं है । प्रो० मलकानी के तर्क श्री अरविन्द की कल्पनाओं से कहीं अधिक पुष्ट हैं । अतः तर्क की दृष्टि से भी अरविन्द का प्रयास व्यर्थ है । वास्तव में आविर्भाव, संभूति, असंभूति, अनंतता, लीला, जादूगर आदि के सम्प्रत्ययों को उपनिषदों में पाकर श्री अरविन्द ने अपने सिद्धान्त को बनाया किन्तु अद्वैतवेदान्तियों ने इन सम्प्रत्ययों

---

२६. फिलासफिकल क्वार्टर्ली, अक्टूबर १९५०-जनवरी १९५१, पृ० १०४

की जो व्याख्यायें की हैं उनका विचार उन्होंने नहीं किया । अतः उपनिषद् की व्याख्या के सन्दर्भ में श्री अरविन्द का भले ही कोई योगदान हो किन्तु शांकरअद्वैतवेदान्त में उनका कोई योगदान नहीं है । यदि वे शंकराचार्य के ब्रह्म के साथ अपने सृष्टिवाद का समन्वय न करके रामानुज आदि के ब्रह्मवाद के साथ समन्वय करते तो उनका प्रयास तर्कतः समीचीन होता ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य का मायावाद तार्किक दृष्टि से अकाट्य है । उसका श्री अरविन्द द्वारा खण्डन करना न्यायसंगत नहीं है । श्री अरविन्द ने शंकराचार्य की विचारधारा को अयथावत् समझकर एवं गलत धारणाओं से युक्त होकर ही मायावाद का खण्डन किया है । निष्पक्षरूप से यदि देखा जाय तो श्री अरविन्द भी उसी तथ्य को दूसरे शब्दों में पल्लवित एवं पुष्पित करते हुए दिखायी पड़ते हैं जिसे शंकराचार्य ने पहले ही प्रतिपादित किया है । अतएव यदि यह कहा जाय कि श्री अरविन्द द्वारा शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन खण्डन न होकर शंकराचार्य के मायावाद का मंडन ही है तो अयथावत् उक्ति न होगी ।

--0--

चतुर्थ अध्याय

-o-

बाबू शान्तिनाथ द्वारा मायावाद का खण्डन

जाय कि कार्य और कारण की एकता के लिए कोई
बवाद रक्षित औचित्य के अभाव में सत् के विभिन्न स्त
र यह मान लेना चाहिए कि कारण-सम्बन्ध की पर्या
असम्भव है अथवा कारण-सम्बन्ध को साधारण सम्ब
मंभव है ।

के विषयगत अनुभव अथवा वस्तुगत सत्ता के कारण ही उच्चतर सत्ता और निम्नतर सत्ता का विचार उत्पन्न होता है । इस प्रकार उच्चतर सत्ता का तात्पर्य सत्यापित अनुभव का विषय या ज्ञान है और निम्नतरसत्ता का तात्पर्य असत्यापित अनुभव का विषय या ज्ञान है[२]।

पुनश्च, उच्चतरसत्ता ही एक मात्र सत्ता है और इससे भिन्न अन्य सत्तायें सामान्य अनुभव के विषय हैं और उनकी सत्ता केवल प्रातिभासिक है । परन्तु यहां भी अन्तर का आधार अनुभव है । अद्वैतमत में ब्रह्मज्ञानी के लिए किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता है और इस रूप में सामान्य अनुभव के भेद ही जगत्-व्यवस्था का निर्माण करते हैं । अतः यह प्रातिभासिक सत्ता ही है । उच्चतरसत्ता पूर्ण चेतन एवं सत् है । यहां भी सत्ताभेद का कारण अनुभव (मानसिक) ही है । इस प्रकार जो अतीन्द्रिय अनुभव से ज्ञात होता है, वह उच्चतर सत्ता है क्योंकि वह किसी अन्य अनुभव से असत्य नहीं होता और जो अनुभव से ज्ञात होता है, वह निम्नतर सत्ता है क्योंकि वह अतीन्द्रिय अनुभव से असत्य हो जाता है ।

इस प्रकार उच्चतरसत्ता और निम्नतरसत्ता का भेद वास्तव में समान वस्तुगत सत्ता के सम्बन्ध में दो धारणाओं या दो ज्ञान का प्रतिफल है, जिसमें एक दूसरे के द्वारा असत्य सिद्ध होता है । अतः न तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि एक पदार्थ स्वतः दूसरे पदार्थ से अधिक सत्तावान है और न यही माना जा सकता है कि इस प्रकार की दो सत्तायें (उच्चतर और निम्नतर) एक साथ रहकर किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निर्माण करती हैं[३]।

----

२. 'A higher reality means the object of valid experience of knowledge and a lower reality means the object of invalidated experience or knowledge.'

वही, पृ० ५४१-४२

३. वही, पृ० ५४३

परन्तु विश्लेषणोपरान्त अद्वैतियों के पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य यही मानना पड़ता है कि कार्य और कारण का भेदविषयक ज्ञान अभेद अनुभव से असत्यापित होता है । किन्तु यह अनुभव के विपरीत है क्योंकि कार्य और उपादान कारण के अभेद (जैसे घट और मृत्तिका में द्रव्य दृष्टि से अभेद है) के साथ ही भेद भी ज्ञात हो जाता है, एक से दूसरा असत्यापित होता हुआ दिखायी नहीं पड़ता है । यदि अभेद से भेद असत्यापित होता तो भेद और अभेद दोनों एक ही साथ अनुभवगम्य नहीं हो सकते हैं । यह सम्भव नहीं है कि एक पदार्थैक्य (कार्य-कारण-सम्बन्ध) बनने के लिए सत्य और असत्य दोनों प्रत्ययों का एकत्र रहकर परस्पर सहयोग करे ।

पुनश्च, जब दो पदार्थों को भिन्न सत्तावान् कहा जाता है, तब उसे दो कहना भी न्यायसंगत नहीं है क्योंकि दोनों समान स्तर के नहीं हैं ।[४] अतः कार्यकारणसम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से जो भेद और अभेद है, उनमें यदि एक को दूसरे के समान सत्य न मानकर पृथक् स्तर का अस्तित्व वाला मान लिया जाय तो यह कहना न्यायसंगत नहीं होगा कि कार्यकारणसम्बन्ध भेदाभेद सम्बन्ध रूप है, जैसे घट से पट भिन्न है और यह उच्चतर स्तर का अनुभव कहा जाता है । इसमें उक्त कार्यकारण-सम्बन्ध को अभेद सम्बन्धरूप मानना पड़ेगा जैसा कि मृत्तिका या स्वर्ण अपने से अभिन्न है । परन्तु दोनों पक्षों को स्वीकार करने पर कार्यकारणसम्बन्ध पूर्णतः नष्ट हो जायेगा ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि पूर्ण भेद असम्भव है । यह सत्य है कि उपादान कारण की दृष्टि से घट और पट में अभेद है और सदा

---

४ '. . .. . when we recognise two realities as of two different orders, we are not justified even in speaking of them as two, for the one does not stand on the same plane of existence with the

वही, पृ०४४-४५

की दृष्टि से जीव और ब्रह्म में अभेद है । अतः भेद और अभेद आवश्यक रूप से परस्पर मिले हुए हैं । जब यह कहा जाता है कि भेद और अभेद एक है अथवा सामान्य अनुभव में दूसरा पहले से अधिक स्पष्ट है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पहला वहां अविद्यमान है । वास्तव में उसके पीछे वह अविद्यमान नहीं अपितु विद्यमान रहता है । अभेद सदैव भेदविशिष्ट होता है । अविशिष्ट अभेद और अविशिष्टभेद तार्किक एवं मानसिक दृष्टि से कहीं भी सम्भव नहीं है । अतः अद्वैतियों के पूर्वोक्त कथन को स्वीकार करने में कोई औचित्य नहीं है।

पुनश्च, अद्वैतियों की यह धारणा कि मृत्तिका-घट में ऐसे अनेक धर्म उत्पन्न होते हैं जो मृत्तिका की सत्ता से व्यावर्तक न होते हुए भी व्यावर्तक होते हैं, स्वीकार करने योग्य नहीं है । प्रश्न है कि क्या इस व्यावर्तक धर्म से कारण-द्रव्य का स्वरूप प्रभावित होता है ? यहां दो पक्ष हैं--प्रथम, कार्य कारण से असंयुक्त और सत् है । द्वितीय, कार्य अवास्तविक (असत्) है । प्रथमपक्ष--पर्याप्तकारणता का सिद्धान्त कहता है कि कार्य की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त कारण होना चाहिए । यदि कार्य का कारण से कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर इस नियम का उल्लंघन होता है । अतः प्रथम पक्ष ठीक नहीं है । द्वितीय पक्ष--जब कार्य अवास्तविक है तो फिर कारण भी अवास्तविक हो जायेगा क्योंकि कार्य के होने पर ही कारण की सार्थकता है । यदि कार्य अवास्तविक है तो कारण वास्तव में कारण नहीं बल्कि एक ऐसा सत् है जो निर्विशेष अकारण एवं असम्बद्ध है और उससे कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती है । अतः अद्वैतवेदान्त का कार्यकारणसिद्धान्त युक्ति तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता है[5]।

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार सत्, चेतन एवं स्वप्रकाशत्व परमतत्व के गुण नहीं हैं क्योंकि परमतत्व निर्गुण है । परन्तु यदि यह मान

---

5 वही, पृ० ५५१-५२

किया जाय कि मूल तत्व के उक्त स्वरूप उससे उत्पन्न प्रत्येक कार्य में समान रूप से रहते हैं, तो नामरूपात्मक जगत् में पदार्थ स्वप्रकाश, चेतन एवं सत् स्वभाव वाले हो जायेंगे और जड़ तथा स्वप्रकाशहीन पदार्थ का जगत् में अभाव हो जायेगा । परन्तु यह अनुभव के विपरीत है । यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि स्वप्रकाशचैतन्यसत् ही सभी वस्तुओं के मूल में विद्यमान है, किन्तु वह अनुभवगम्य नहीं है । यदि अद्वैतियों की ओर से यह कहा जाय कि सांसारिक पदार्थों में सत् और चेतन सर्वत्र मूलतः इन्द्रियगोचर होता है, तो भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता । अद्वैती जब स्वयं ही चेतन और अचेतन में भेद करते हैं, तब वह कैसे कह सकते हैं कि अचेतन वास्तव में चेतन है और वह अचेतन के स्वरूप में इन्द्रियगोचर होता है । पुनः, अद्वैती परमतत्व को स्वतःसिद्ध मानते हैं । परन्तु वह कार्यरूप में इन्द्रियगोचर नहीं होता है । अतः उन्हीं के द्वारा स्वीकृत कार्य-कारण सम्बन्ध के अनुसार गुणरहितसत्चेतन और गुणयुक्त असत् जड़ जगत् में कारणकार्यसम्बन्ध स्थापित करना कठिन है । पुनः, कारण कार्योत्पादन में सक्षम होता है । ऐसा कहीं भी नहीं देखा जाता कि गुण, क्रिया या शक्ति से रहित कारण अपने स्वरूप में विद्यमान रहते हुए कार्योत्पत्ति में समर्थ है । परन्तु अद्वैती ब्रह्म को गुणक्रियादि से रहित मानते हुए भी उसे नामरूपजगत् का कारण मानते हैं, जो स्पष्टतः विपरीत कल्पना है । पुनः, जहां उपादान कारण में स्वतः क्रिया नहीं होती, वहां भी उसमें एक विशेष धर्म रहता है जिससे वह एक विशेष जातीय कार्य का कारण हो सकता है और उसमें किसी निमित्तकारण का व्यापार भी सम्भव नहीं है जिससे जगत् का प्रादुर्भाव हो सके । अतः सच्चित् को विषयजगत् का मूलकारण स्वीकार नहीं किया जा सकता है । पुनः, नियमतः कार्य और कारण के परस्पर सापेक्ष होने के कारण ब्रह्म को भी सापेक्ष मानना पड़ेगा । अर्थात् यदि ब्रह्म को मृत्तिका-घट के अनुसार जगत् का कारण मान लिया जाय तो ब्रह्म को परिणामरहित, गुणरहित, शक्तिरहित और सच्चित्स्वरूप नहीं कहा जा सकता है[६] ।

---

६ वही, पृ० ५५७-५८

पुनश्च, अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार अज्ञान अध्यस्तपदार्थ का उपादानकारण है। यहाँ वे तीन मुख्य बातों का उल्लेख करते हैं : (१) अज्ञान के बिना अध्यस्तपदार्थ का ज्ञान नहीं होता, (२) अज्ञान तक ही अध्यस्त पदार्थ रहता है और (३) अज्ञान के तिरोभाव से अध्यस्तपदार्थ का भी तिरोभाव हो जाता है। परन्तु अद्वैतियों का यह मत ठीक नहीं है क्योंकि इस मत से यह सिद्ध नहीं होता कि अज्ञान ही अध्यस्तपदार्थ का उपादानकारण है क्योंकि ये उपादानकारण और कार्य के किसी सहकारीकारण में समान रूप से देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए, हम उसी समय तक शब्द सुन सकते हैं जबतक वायु रहता है किन्तु वायु को शब्द का उपादानकारण नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार के अन्य दृष्टान्त भी दिये जा सकते हैं जिनमें नित्य सहकारीकारण के ऊपर वस्तु का अस्तित्व निर्भर करता है, किन्तु मात्र इसी कारण से उसको उपादान कारण नहीं कहा जा सकता है। अत: अज्ञान भ्रान्त प्रत्यक्ष के विषय का उपादान कारण है, जो उसके आवश्यक सहकारी कारण से भिन्न है --यह सिद्ध नहीं होता है।[७]

पुनश्च, साधारणतया अनुभव से ज्ञात होता है कि केवल अज्ञान ही अध्यास को उत्पन्न नहीं कर सकता, बल्कि जब अध्यास होता है तब अज्ञान उस अध्यास के मुख्य हेतु के साथ नियत साहचर्य को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश की कमी से रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है और पूर्ण प्रकाश के होने पर सर्प का अध्यास समाप्त हो जाता है। कुछ घटनाओं में अज्ञान के विद्यमान रहने पर भी अध्यास विद्यमान रहता है। इनमें किसी अन्य घटना के साथ अध्यास का नियत साहचर्य पाया जाता है, जैसे ट्रेन का चलना ही वृक्षों के चलायमान

---

७ 'Ignorance is not proved to be the material cause of the objects of illusory perception, as distinct from one of their necessary auxiliary conditions.'

वही, पृ० ५५५-५६

प्रतीत होने में मुख्य कारण है, जिसके अविद्यमान रहने पर बुढ़ा भी सबल दिखायी पड़ते हैं। अत: जब अध्यास में अनेक कारण मुख्यरूप से विद्यमान रहते हैं, तब यह कैसे माना जा सकता है कि केवल अज्ञान ही सभी अध्यासों का वास्तविक उपादान-कारण और उसके प्रत्यक्ष का आधार है[८]।

यदि अज्ञान और अध्यास के नियत सम्बन्ध को मान भी लिया जाय तो भी अज्ञान को अध्यास का उपादानकारण मानने में कोई औचित्य नहीं है[९]। जहाँ अध्यस्तपदार्थ की प्रतीति अज्ञान के कारण मान भी ली जाती है, वहाँ अनुभवकर्ता के प्रति रज्जु और शुक्ति ही अध्यस्त सर्प और रजत रूप से स्वत: अभिव्यक्त होता है, शुक्ति सर्प रूप से और रज्जु रजत रूप से प्रतीत नहीं होती है। अत: अध्यस्तपदार्थ के स्वरूप के निर्माण में अधिष्ठान का स्वरूप ही उपादान कारण होता है। अधिष्ठान के अनुरूप ही अध्यास होता है और अध्यस्त की प्रतीति के लिए अधिष्ठान का विद्यमान रहना अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि अज्ञान एक आवश्यक सहकारी कारण के रूप में सिद्ध हो सकता है, किन्तु उसे उपादानकारण मानना उचित नहीं है[१०]।

पुनश्च, केवल अज्ञान अथवा बाह्य या आन्तर अज्ञानयुक्त अधिष्ठान को अध्यस्तविषय का उपादानकारण सिद्ध नहीं किया जा सकता है। फलत: अद्वैती अधिष्ठान और उससे सम्बद्ध अज्ञान के द्वारा आध्यासिक कार्यकारणभाव

---

८ वही, पृ० ५६६

९ 'Even if an invariable connection between Ignorance and illusion could be established, would that be a justification for regarding Ignorance as the material cause of illusion ?'
वही, पृ० ५६८

१० वही, पृ० ५६८

प्रतीत होने में मुख्य कारण है, जिसके अविद्यमान रहने पर वृक्ष भी अचल दिखायी पड़ते हैं। अतः जब अध्यास में अनेक कारण मुख्यरूप से विद्यमान रहते हैं, तब यह कैसे माना जा सकता है कि केवल अज्ञान ही सभी अध्यासों का वास्तविक उपादान-कारण और उसके प्रत्यक्ष का आधार है[८]।

यदि अज्ञान और अध्यास के नियत सम्बन्ध को मान भी लिया जाय तो भी अज्ञान को अध्यास का उपादानकारण मानने में कोई औचित्य नहीं है[९]। जहां अध्यस्तपदार्थ की प्रतीति अज्ञान के कारण मान भी ली जाती है, वहां अनुभवकर्ता के प्रति रज्जु और शुक्ति ही अध्यस्त सर्प और रजत रूप से स्वतः अभिव्यक्त होता है, शुक्ति सर्प रूप से और रज्जु रजत रूप से प्रतीत नहीं होती है। अतः अध्यस्तपदार्थ के स्वरूप के निर्माण में अधिष्ठान का स्वरूप ही उपादान कारण होता है। अधिष्ठान के अनुरूप ही अध्यास होता है और अध्यस्त की प्रतीति के लिए अधिष्ठान का विद्यमान रहना अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि अज्ञान एक आवश्यक सहकारी कारण के रूप में सिद्ध हो सकता है, किन्तु उसे उपादानकारण मानना उचित नहीं है[१०]।

पुनश्च, केवल अज्ञान अथवा बाह्य या आन्तर अज्ञानयुक्त अधिष्ठान को अध्यस्तविषय का उपादानकारण सिद्ध नहीं किया जा सकता है। फलतः अद्वैती अधिष्ठान और उससे सम्बद्ध अज्ञान के द्वारा आध्यासिक कार्यकारणभा

---

८ वही, पृ० ५६६

९ 'Even if an invariable connection between Ignorance and illusion could be established, would that be a justification for regarding Ignorance as the material cause of illusion ?'

वही, पृ० ५६८

१० वही, पृ० ५६८

की उपपत्ति भी नहीं दे सकते हैं । दूसरे शब्दों में, रज्जु-सर्प में अज्ञान के उपादानकारण प्रमाणित न होने पर उसके आधार पर समस्त अध्यस्तजगत् का उपादानकारणरूप मूल अज्ञान का अनुमान भी नहीं हो सकता है ।

अद्वैतियों का यह मत कि जिस प्रकार रज्जु के अधिष्ठान में सर्प अध्यस्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्म के अधिष्ठान में जगत् अध्यस्त होता है, शान्तिनाथ जी को मान्य नहीं है । उनके अनुसार दृष्टिशक्ति की कमी के कारण रज्जु के स्थान पर सर्प देखते समय मनुष्य के अज्ञान के कारण रज्जु का वास्तविक रूप आंशिक रूप से आवृत हो जाता है और अन्य सहकारी कारणों (सर्पसंस्कार, सादृश्यजनितसंस्कार का उद्बोध आदि) के प्रभाव से वह सर्परूप में भासित होता है । परन्तु यह दृष्टान्त ब्रह्म पर लागू नहीं होता क्योंकि अल्पज्ञ अद्वितीय, निर्विशेष ब्रह्म के दर्शन में असमर्थ है । ब्रह्म के साथ किसी पदार्थ की सादृश्यता भी सम्भव नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्म आंशिक रूप से अभिव्यक्त या आवृत नहीं हो सकता है । अतः रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से ब्रह्म में जगत् के अध्यस्त होने की कल्पना समीचीन नहीं है।[११]

पुनश्च अधिष्ठान-ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है, इस मत की स्वीकृति के लिए इन शर्तों का प्रतिपादन करना अनिवार्य है[१२] —

(i) अधिष्ठान-ब्रह्म जगत् के सम्बन्ध से रहित स्वतंत्र अस्तित्व वाला है ।
(ii) ब्रह्म का अस्तित्व त्रिकाल अबाधित है ।
(iii) ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप आवरण के योग्य है ।
(iv) यह आवरण ब्रह्म से बाहर और स्वतंत्र किन्तु ब्रह्म से सम्बद्ध किसी कारण शक्ति को स्वीकार नहीं करता है ।

----

११ प्राच्यदर्शन समीक्षा, लेखक तथा प्रकाशक, साधु शान्तिनाथ, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९४०, पृ० २११-१२

१२ द क्रिटिकल एग्जीमिनेशन आफ दी फिलासफी आफ रेलिजन, पृ० १८२-८२

(V) इस आवरण को ब्रह्म-भिन्न किसी चीज की अपेक्षा नहीं है ।

(Vi) ब्रह्म का मिथ्या आभास, जो नामरूपजगत् है, तर्कतः व्याख्येय है ।
(Vii) ब्रह्म-प्राप्ति जगत का बाध है।
(Viii) ब्रह्म-प्राप्ति सत्य ज्ञान है और इसकी सत्यता को सिद्ध किया जा सकता है ।

(ix) जगत् परमार्थतः त्रिकाल बाधित है ।

उपरोक्त शर्तों को प्रमाणित किये बिना जगत् को अधिष्ठान-ब्रह्म में अध्यस्त नहीं माना जा सकता है । परन्तु इनकी सिद्धि असंभव है क्योंकि --

(i) अद्वैतियों के प्रथम शर्त के विरुद्ध कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और समाधि-अनुभव निर्विशेष ब्रह्म को अपना विषय नहीं बना सकते हैं । यदि ब्रह्म किसी प्रकार के यथार्थज्ञान का विषय है तो वह जगतातीत निर्विशेष ब्रह्म नहीं हो सकता । वह एक गुणयुक्त, परिवर्तनशील इन्द्रियानुभविक वस्तु होगा क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान से केवल आनुभविक वस्तु ही उसके विषय हो सकते हैं । पुनः, अद्वैतवेदान्तियों के यथार्थज्ञान के मूलस्रोत धर्मग्रन्थ भी स्वतः सिद्ध निर्विशेष ब्रह्म के विषय में यथार्थज्ञान नहीं दे सकते हैं क्योंकि उनका ज्ञान शब्द के माध्यम से होता है और शब्द परमवस्तु को विषय बनाने में असमर्थ हैं । अतः ब्रह्म जगत् से असम्बद्ध एवं स्वतंत्र है, इसकी सिद्धि न होने पर, ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर जगत् को उसमें अध्यस्त मानना असंगत है[11]।

(ii) द्वितीय शर्त के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि जगत् के परे ब्रह्म का स्वतंत्र अस्तित्व है तो भी उसका त्रिकाल अबाधितत्व किसी रूप में यथार्थज्ञान का विषय नहीं हो सकता है ।

---

११ वही, पृ० ५८२-८३

किसी पदार्थ की त्रिकाल अबाधता जानने के लिए यह आवश्यक है कि उसका त्रैकालिक अस्तित्व प्रमाण द्वारा सिद्ध हो । प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान को ही जान सकता है, भूत और भविष्य को नहीं । किसी पदार्थ के वर्तमान ज्ञान के आधार पर यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि वह भूतकाल में भी उसी प्रकार विद्यमान था और भविष्य में भी उसी प्रकार विद्यमान रहेगा । इसी प्रकार अन्य प्रमाणों से भी निर्विशेष ब्रह्म की त्रिकाल अबाधता का ज्ञान नहीं हो सकता है।[14]

(iii) तृतीय शर्त के विरुद्ध वाधुलाग्निनाथ का कहना है कि निर्गुण, निरंश, स्वप्रकाश, चैतन्यब्रह्म का स्वरूप आच्छन्न नहीं हो सकता है । अतः वह अध्यस्त जगत् का अधिष्ठान नहीं हो सकता है । यदि आच्छादित वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप आच्छन्न होता है तो उसमें और अध्यस्तपदार्थ में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और फलतः उक्त वस्तु को अध्यस्तपदार्थ का अधिष्ठान भी नहीं माना जा सकता है । ऐसी स्थिति में किसी भी अधिष्ठान के आच्छन्न होने पर कोई भी पदार्थ अध्यस्तरूप से भासित होगा । अर्थात् शुक्ति के आच्छन्न होने पर सर्प की प्रतीति होगी और रज्जु के आच्छन्न होने पर रजत की । परिणामतः अध्यस्तपदार्थों को अधिष्ठान की अपेक्षा न होगी और वे स्वतंत्ररूप से आविर्भूत एवं तिरोभूत होंगे । अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अधिष्ठान पूर्णतः आच्छन्न नहीं होता है बल्कि उसके कुछ सामान्य धर्म अध्यस्तपदार्थ में समवेत रहते हैं जिससे उनमें परस्पर सम्बन्ध बना रहता है । यह भी कहना ठीक नहीं है कि यदि वस्तु का पूर्ण स्वरूप अनावृत हो तो भ्रान्ति नहीं हो सकती है । अतः किसी वस्तु में अध्यास के लिए सामान्य और विशेष धर्म का भेद आवश्यक है।[15]

---

१४ प्राच्यदर्शन-समीक्षा, पृ० २१६-१७

१५ वही, पृ० २१८-१९

इस प्रकार अद्वैत वेदान्तसम्मत ब्रह्म में अध्यास का होना असम्भव है क्योंकि उनके मत में ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद (सामान्य और विशेष) नहीं है ।

(iv) सामान्य अनुभव में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो अपनी ही शक्ति से अपने को आवृत कर सकती हो । आवृत होने वाली और आवृत करने वाली सत्ता भी एक नहीं हो सकती है । यदि यह मान लिया जाय कि ब्रह्म के पास अपने स्वरूप को आंशिक रूप से आवृत करने की रहस्यमयी शक्ति है तो ब्रह्म शक्तिहीन, क्रियाहीन, चेतन नहीं रह सकता है । ब्रह्म को क्रियाशील मानना पड़ेगा । यदि आवृत करने वाली शक्ति ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप से सम्बद्ध है तो ब्रह्म को आवृतस्वप्रकाश, आवृतपरमसत्, आवृत-असीम और आवृतचेतन मानना पड़ेगा और यदि यह आवृत शक्ति अवियोज्य आगन्तुक गुण है जो ब्रह्म से आन्तरिकरूप से सम्बद्ध है, तो ब्रह्म को तात्त्विकस्वरूप और आगन्तुकस्वरूप वाला मानना पड़ेगा । अपने तात्त्विकस्वरूप में यह सदाचेतन, स्वप्रकाश, परमसत्, असीम और अपने आगन्तुकस्वरूप में सदा अचेतन, अस्वप्रकाश, सापेक्ष एवं सीमित होगा । परन्तु दोनों का सम्बन्ध तर्कत: स्वीकार करने योग्य नहीं है । पुन:, इस आवृत शक्ति के ब्रह्मस्वरूप में सदैव विद्यमान रहने पर (आगन्तुक तथा तात्त्विकस्वरूप में) उसका तिरोधान नहीं हो सकेगा और उससे उत्पन्न भ्रान्ति को भी दूर नहीं किया जा सकेगा । इस स्थिति में भ्रान्ति को भ्रान्ति भी नहीं माना जा सकेगा । अत: जगत् का अध्यास असम्भव है[१६] ।

(v) पंचम शर्त के विरुद्ध साधु शान्तिनाथ का कहना है कि केवल विषय-विषयी भेदयुक्त स्वात्मचेतनवान् पदार्थ ही अधिष्ठान और अनुभवकर्ता हो सकता है । प्रश्न यह है कि क्या ब्रह्म को इस आभासित जगत् का अनुभवकर्ता और अधिष्ठान माना जा सकता है ? यहाँ यह प्रतिष्ठित करना आवश्यक है कि

---

१६ द क्रिटिकल एग्जामिनेशन आफ द फिलासफी आफ रेलिजन, पृ० ५८७-८८

ब्रह्म चेतन है, अथवा अचेतन है अथवा स्वात्मचैतन्यवान् है ? यदि कहा जाय कि ब्रह्म चेतन और स्वप्रकाश होता हुआ भी स्वयं अपने स्वरूपगत अध्यास का ज्ञाता नहीं है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि ब्रह्म किसी दूसरे ज्ञाता के ज्ञान का विषय है जिसको उसके किंचिद्रूप से आवृत और किंचिद्रूप से अभिव्यक्त स्वरूप में जगत्-अध्यास का अनुभव होता है । उस अनुभव करने वाले जीव की सत्ता को ब्रह्म से पृथक् और अध्यासकाल के पूर्व में भी विद्यमान मानना पड़ेगा अन्यथा उक्त जीव को ब्रह्म के आंशिकरूप से आवृत स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकेगा । परन्तु अद्वैतियों को यह मत मान्य नहीं है क्योंकि उनके मत में जीव स्वतंत्र नहीं अपितु आभासित जगत् के भीतर सत्तावान् है । यदि उक्त मत के अनुसार आवृत जीव भी वास्तव में अध्यास का कार्य है, तो अध्यास की उत्पत्ति जीवों के सम्बन्ध से उपपादन नहीं कर सकती । यदि अद्वैती यह कहें कि आवृत जीव और अध्यस्त जगत् दोनों अनादि हैं तो उत्तर में कहा जा सकता है कि आवृत जीव और जगत् को अध्यस्त मानने की अपेक्षा यह मानना अधिक उचित है कि वे नित्य, सत्य और अद्वैत-तत्त्व से स्वभावतः सम्बद्ध हैं ।

पुनश्च, यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म स्वात्मचैतन्यवान् है और वह स्वयं इस अध्यास का अनुभव करता है, तो भी अनेक दोष उत्पन्न होंगे, क्योंकि ऐसी स्थिति में ब्रह्म एक ही समय में विषयी और विषय दोनों होगा जिससे अद्वैतमतानुसार विषय को अस्वप्रकाश मानना पड़ेगा । अस्वप्रकाश विषय के भी स्वरूप के अन्तर्गत होने पर ब्रह्म का जो आत्मज्ञान है उसे भी अपूर्ण मानना पड़ेगा, जिससे उसका आंशिक रूप से आवृतस्वरूप उसके प्रति अभिव्यक्त हो सके । परन्तु इस मत में ब्रह्म का स्वरूप एकरूप नहीं रहेगा, क्योंकि उसमें अनेक धर्म अंशतः आवृत और अनावृत हैं । केवल इतना ही नहीं इसमें ब्रह्म का स्वरूप विकारवान भी हो जायेगा क्योंकि मनुष्य के समान उसमें भी स्वप्न मनोरथादि होते रहेंगे । किन्तु ये सब कल्पनायें ब्रह्म के साथ मेल नहीं खाती हैं । अतः यही मानना अधिक उचित है कि वह सदैव अपने आप को नित्य चैतन्यस्वरूप से अभिव्यक्त करता है ।

अतः प्रपंच का बाध करके उसे आध्यासिक नहीं कहा जा सकता है।[17]

(Vi) यदि निर्गुण ब्रह्म को परमसत् और इस परमसत् के साथ तार्किक संगति के लिए जगत् को अध्यास मान भी लिया जाय तो भी जगत् के प्रकृतस्वरूप के ज्ञान के लिए एक ऐसा कारण मानना पड़ेगा जो नामरूपात्मक जगत् की व्याख्या कर सके। अद्वैती भावरूप अज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य कारण का उल्लेख नहीं करते हैं। परन्तु यदि अज्ञान को भावरूप मान भी लिया जाय तो भी यह केवल अधिष्ठान के आवृतस्वरूप की ही व्याख्या कर सकता है, अधिष्ठान के अनेक भ्रामक विषय की उत्पत्ति का नहीं।

(Vii) पूर्व आलोचनाओं के आधार पर आशुतोषनाथ का स्पष्ट विचार है कि निरपेक्ष, निरंश, चेतन एवं अद्वैत ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान असम्भव है और यदि ब्रह्म किसी यथार्थज्ञान का विषय है, तो वह नित्य, निरंश एवं जगतातीत तत्व नहीं हो सकता है। वह एक व्यावहारिक गुणयुक्त पदार्थमात्र होगा। समाधिकाल में जगत्-ज्ञान का तिरोभाव होता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जगत् मिथ्या था, अतएव तिरोभाव को प्राप्त हुआ क्योंकि जगत् के ज्ञान का अभाव सुषुप्ति और मूर्च्छावस्था में भी पाया जाता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि किसी काल में जीव को ऐसा यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है कि जगत् वास्तव में कभी नहीं था, अतएव इसका अस्तित्व त्रिकाल निषिद्ध है।[18]

इस प्रकार इन आलोचनाओं के आधार पर यह सिद्ध होता है कि निर्गुण, निरपेक्ष, निरंश, निर्विशेष ब्रह्म में जगत् अध्यस्त है, इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए संतोषजनक एवं ठोस प्रमाणों का अभाव है। अतः अद्वैतवेदान्तियों का इस सिद्धान्त के आधार पर जगत् को मिथ्या कहना समीचीन एवं न्यायसंगत नहीं है।

---

१७ वही, पृ० ५६१-६३

१८ वही, पृ० ५६५-६६

शान्तिनाथ-मत की आलोचना

साधुशान्तिनाथ ने जिस कार्यकारणवाद के आधार पर मायावाद का खण्डन किया है वह पर्याप्त नहीं है । उन्होंने कार्य-कारणवाद को वास्तविक या भौतिक अर्थ में लिया है । किन्तु अद्वैतवेदान्त में कार्यकारणवाद को इस अर्थ में नहीं लिया जाता है । वहाँ कारण का संप्रत्यय मूल्यमीमांसात्मक (Axiological) है । प्रो० रामप्रताप सिंह ने कारण के इस पारमार्थिक या मूल्यमीमांसात्मक स्वरूप का उद्घाटन करके साधुशान्तिनाथ जैसे आलोचकों को निरुत्तर कर दिया है[१९]। ऐसी परिस्थिति में साधुशान्तिनाथ की आपत्ति वास्तव में अवान्तर कल्पना पर आधारित है । अतः उससे मायावाद का खण्डन नहीं होता है ।

दूसरे, साधुशान्तिनाथ ने अज्ञान को भी अद्वैतवेदान्त के अर्थ में नहीं लिया है । इतना तो उन्होंने ठीक समझा कि अज्ञान अध्यास का उपादान कारण है । किन्तु फिर वे इस अज्ञान को भ्रम समझने लगे । अज्ञान भ्रम नहीं है, वरन् भ्रम का कारण है । अतएव अज्ञान और भ्रम को अभिन्न करके साधुशान्तिनाथ ने घपला किया है । इस कारण अज्ञान की उनकी आलोचना इस घपले पर ही आधारित है । अद्वैतवेदान्ती जिस अज्ञान को भावरूप, आवरण, विक्षेप तथा मल से युक्त मानता है वह एक प्रकार का ज्ञानमीमांसीय तत्त्व है । उसकी सम्यक् जानकारी न होने के कारण ही साधु शान्तिनाथ ने अज्ञान की आलोचना की है । इस विषय में उनकी आपत्तियों का जो ठीक उत्तर है वह प्रो० घनश्यामदास रत्नमल मलकानी के निबन्ध से प्राप्त किया जा सकता है[२०]।

---

१९ द वेदान्त आफ शंकर भाग -१, राम प्रताप सिंह, भारत पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, १९४९, पृ० २६१-३०१

२० अज्ञान, जी० आर० मलकानी आदि, लन्दन, १९३३

अन्ततः जिन सब शर्तों पर अज्ञान-सिद्धान्त या माया-सिद्धान्त को साधु शान्तिनाथ ने आधारित किया है वे सभी अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त हैं । उनकी सिद्धि के लिए किसी भी अद्वैत-ग्रन्थ को देखा जा सकता है । शान्तिनाथ जी ने जिस हल्के-फुल्के ढंग से इन सिद्धान्तों को लिया है वह उन जैसे साधु एवं मनीषी के अनुकूल नहीं है । उन्हें इनके प्रतिपादन के लिए अद्वैतसिद्धि या ब्रह्मसिद्धि देखनी चाहिए थी । या इनके खण्डन के लिए इन ग्रन्थों में जो प्रतिपादनात्मक युक्तियाँ दी गयी हैं उनका खण्डन करना चाहिए था । ऐसा न करके उन्होंने अपनी आलोचना को मात्र घुड़की बना दिया है । यह किसी क्रुद्ध साधु की आवेश-भरी बात हो गयी है, न कि उसकी सच्ची अनुभूति । यदि अनुभूति के धरातल पर शान्तिनाथ जी इन सिद्धान्तों को परखते तो उन्हें अवश्य इनका औचित्य प्रतीत होता ।

इन शर्तों का विवेचन पूरे अद्वैतवेदान्त का विवेचन है जो प्रस्तुत प्रसंग में अप्रासंगिक है । अतः इसे हम यहीं छोड़ते हैं और इतना कहकर विराम लेते हैं कि साधुशान्तिनाथ की आलोचना ने देश के विद्वानों पर कोई प्रभाव नहीं डाला । यद्यपि उनकी पुस्तकों का प्रचार-प्रसार बलात् बहुत अधिक किया गया तथापि किसी ने भी न तो उनका समर्थन किया और न खंडन । वास्तव में उनकी पूर्ण उपेक्षा की गयी और उन्हें केवल एक वितण्डावादी साधु समझा गया । सारग्राही दृष्टि या विवेक नाम की वस्तु उनके ग्रन्थों में नहीं है ।

-o-

पंचम अध्याय

-0-

शतवृभाणी की पुनर्व्याख्या

पंचम अध्याय

-o-

शतदूषणी की पुनर्व्याख्या

१४ वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के अनुयायी वेदान्तदेशिक ने शतदूषणी नामक एक वाद-ग्रन्थ[1] संस्कृत में शांकरवेदान्त के मतों के खण्डनार्थ एवं विशिष्टाद्वैत के मतों के स्थापनार्थ लिखा। जो स्थान श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का अद्वैत-दर्शन में अथवा व्यासतीर्थ के तर्कताण्डव का द्वैत-दर्शन में है, वही स्थान वेदान्तदेशिक के शतदूषणी का विशिष्टाद्वैत-दर्शन में है[2]। शतदूषणी सौ विवादग्रस्त विषयों पर आधारित है, यह उसके नाम के अभिप्राय से स्पष्ट है। परन्तु इस समय ६६ खण्डन तक ही यह उपलब्ध है। किसी ठोस प्रमाण के अभाव में यह अनुमान करना कठिन है कि शेष ३४ खण्डन वेदान्तदेशिक ने लिखे थे और अब वे खो गये हैं या उन्होंने केवल ६६ विवाद-विषय लिखे, जो अब उपलब्ध हैं। वेदान्तदेशिक ने इस ग्रन्थ में यद्यपि अद्वैत मतों के खण्डनार्थ रामानुजाचार्य के श्री भाष्य के जिज्ञासाधिकरण के तर्कों का अनुकरण किया है फिर भी इसका क्षेत्र कुछ अधिक विस्तृत है। चूंकि

---

१. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, एस० एम० श्रीनिवासचारी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, न्यूयार्क, प्रथम संस्करण, १९६१, पृ० ४-५ तथा भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-३, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, अनु०, ए० मु० बड़ावड़ा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, १९७४, पृ० २८२-८३।

२. वेदान्त देशिक, डा० सत्यव्रत सिंह, संस्कृत सिरीज़ चौखम्भा बनारस, प्रथम संस्करण, १९५८, पृ० ८४।

शतदूषणी अद्वैत मतानुयायियों के साथ वेदान्तदेशिक के शास्त्रार्थ का परिणाम है, इसलिए इसके सभी वाद तार्किक क्रम में नहीं हैं। परन्तु तार्किक क्रम न होने पर भी यह अपने आप में पूर्ण एवं विस्तृत है।

वर्तमान समय में शतदूषणी पर संस्कृत में तीन टीकायें उपलब्ध हैं : (i) दोड्डयाचार्य की चण्डमारुतम्, (ii) नृसिंहराजाराय की प्रकाश और (iii) श्रीनिवासाचार्य की सहस्रकिरणी। इन टीकाओं के अतिरिक्त महामहोपाध्याय हैट्टूर नरसिंहाचार्य ने तमिल भाषा में प्रथम ५५ वादों का अनुवाद किया है।

इस प्रसंग में अंग्रेजी में भी तीन ग्रन्थों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ; (i) डा० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त की हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग -३। डा० दासगुप्त ने ३६ वादों का संक्षिप्त सारांश लिखा है। विषय-क्षेत्र अति विस्तृत होने के कारण सम्भवत: इससे अधिक लिखना उनके लिए सम्भव न था। (ii) डा० सत्यव्रत सिंह का वेदान्त-देशिक। परन्तु जहां तक शतदूषणी का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ का महत्त्व नगण्य है क्योंकि यह वेदान्तदेशिक के सभी ग्रन्थों एवं उनके जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित है। यह शतदूषणी के किसी वाद का विवरण नहीं देता है। (iii) डा० एस० एम० श्रीनिवासचारी का अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत। डा० श्रीनिवासचारी का यह ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह उनके विद्वतापूर्ण परिश्रम एवं शोधपरक अनुशीलन का प्रतिफल है। १९६१ ई० में प्रकाशित इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन शतदूषणी के तर्कों को आधुनिक शैली में प्रस्तुत करना है। वे स्वयं वेदान्त देशिक के अनुयायी हैं और उन्होंने ईमानदारी पूर्वक वेदान्तदेशिक के तर्कों को न्यायसंगत रूप में रखने का प्रयास किया है। उनके अनुसार वेदान्तदेशिक ने अपने खण्डन में किसी अद्वैतवादी ग्रन्थ की युक्तियों का अक्षरश: उद्धरण नहीं दिया है। किन्तु शतदूषणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य, शंकराचार्य के शारीरक भाष्य, वाचस्पति मिश्र

की भामती, विमुक्तात्मा की इष्टसिद्धि, मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि, सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि एवं वार्तिक, पद्मपादाचार्य की पंचपादिका, सर्वज्ञात्ममुनि का संक्षेपशारीरक, आनन्दबोध का न्यायमकरन्द, चित्सुखाचार्य की तत्त्वप्रदीपिका आदि ग्रन्थों को ध्यान में रखा है । परन्तु शतदूषणी में कुछ ऐसी भी युक्तियां हैं जो वेदान्तदेशिक के पूर्व किसी अद्वैत ग्रन्थ में नहीं मिलती हैं । अतः या तो ऐसे पूर्वपक्ष वेदान्तदेशिक के मस्तिष्क की उपज हैं या किसी ऐसे प्राचीन अद्वैत ग्रन्थ से ली गयी हैं जो अब उपलब्ध नहीं हैं । अधिक सम्भावना अन्तिम विकल्प की ही है ।[3]

यह उल्लेखनीय है कि डा० श्रीनिवासचारी ने अपने ग्रन्थ का प्रकाशन महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री की शतदूषणी के प्रकाशन के ५ वर्ष बाद किया परन्तु उनके ग्रन्थ की रचना १९४८ ई० में ही शतदूषणी के प्रकाशन के ८ वर्ष पूर्व हुई थी । उन्होंने अपने आमुख, उपसंहार एवं आधारभूत ग्रन्थसूची में अनन्तकृष्ण शास्त्री की शतदूषणी का उल्लेख भी किया है ।[4] किन्तु उन्होंने शतदूषणी के तर्कों का जानबूझ कर प्रतिवाद नहीं किया है । इसका मुख्य कारण यह है कि उनका ग्रन्थ शतदूषणी की रचना के पूर्व लिखा गया था और उसमें शतदूषणी के तर्कों की आधुनिक व्याख्या की गयी थी । इस प्रकार यह एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में तैयार हुआ था और उसमें शतदूषणी के तर्कों का उत्तर देने से ग्रन्थ के स्वरूप और आकार में विशेष परिवर्तन हो जाता । कुछ भी हो सम्प्रति श्रीनिवासचारी का ग्रन्थ आधुनिक युग में वेदान्तदेशिक की शतदूषणी की नयी स्थापना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

---

३. <u>अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत</u>, पृ० ११-१२

४. वही, पृ० xiv, १७७ एवं १९१

जो लोग संस्कृत के ज्ञाता नहीं हैं उनके लिए श्रीनिवासचारी का ग्रन्थ अनेक नयी युक्तियों से मंडित लगेगा । अतः अनन्तकृष्ण शास्त्री की शतभूषणी के विवेचन के पूर्व हम श्रीनिवासचारी के ग्रन्थ को मायावाद के खण्डन के रूप में प्रस्तुत करना तर्क सम्मत समझते हैं ।

डा० श्रीनिवासचारी ने अपने ग्रन्थ को आठ अध्यायों में विभक्त किया है —(i) प्रमाण (ii) प्रत्यक्ष और भेद (iii) अनुभूति का स्वभाव (iv) जीव और ब्रह्म (v) निर्गुण ब्रह्म (vi) जगत् (vii) अविद्या-सिद्धान्त (viii) साधना और मुक्ति ।

मायावाद-सिद्धान्त से सीमित होने के कारण हमने श्रीनिवासचारी के छठवें एवं सातवें अध्याय को अपने अध्ययन के लिए चुना है । इन दोनों अध्यायों के अतिरिक्त द्वितीय अध्याय के एक विषय 'भेद की वास्तविकता' को भी हमने लिया है । जगत् स्वभाव के विवाद में तीन मुख्य विचारणीय बातें हैं —
(i) जगत् का मिथ्यात्व, (ii) जगत् का ब्रह्म से सम्बन्ध और (iii) कारणता का सम्प्रत्यय । अब यहाँ क्रमशः भेद की वास्तविकता तथा जगत् से सम्बन्धित इन्हीं मुख्य बातों का प्रतिपादन करने का प्रयास किया जायेगा ।

भेद की वास्तविकता

शांकरवेदान्ती भेद के खण्डन में दो विकल्प प्रस्तुत करते हैं । भेद स्वरूप है या धर्म ? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि यदि भेद स्वरूप है तो शुक्ति-रजत आदि भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । 'इदं रजतम्' में 'इदम्' अधिष्ठानरूप में शुक्ति-स्वरूप अवगत होता है । ऐसी स्थिति में वह अधिष्ठान रजत से भिन्न ज्ञात होता है । तब कैसे शुक्ति और रजत के भेद का

अग्रहण सम्भव है ? अर्थात् नहीं है ।[5]

पुनश्च, यदि भेद धर्म है तो प्रश्न उठता है कि धर्म और धर्मी में भेद है या नहीं ? यदि भेद नहीं है तो धर्म और धर्मी में अभेद सिद्ध हो जायेगा और साथ ही साथ धर्म-भेद न होने के कारण सर्व तादात्म्य प्रसक्त होगा अथवा धर्मी के न होने के कारण किसी का किसी से भेद नहीं हो सकेगा। यदि धर्म और धर्मी में भेद है तो फिर वही प्रश्न उठता है कि भेद स्वरूप है या धर्म ? अब एक धर्म को अन्य धर्म से भेद की अपेक्षा होती है और फिर उस भेदरूप धर्म को पूर्वोक्त भेदरूप धर्म से भेद की अपेक्षा होगी । इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा । अत: स्वरूप अथवा धर्म, इन दोनों से भिन्न रूप में भेद का ग्रहण सम्भव नहीं है । इस प्रकार अभेद मानना न्यायसंगत है ।[6]

शांकरवेदान्तियों के उपरोक्त मत के खण्डन में कहा जा सकता है कि भेद प्रतीति का अपलाप किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है । भेद प्रतीति का अपलाप करने पर स्ववचन विरोध, बाध एवं अपसिद्धान्त आदि दोष आ जाते हैं । यदि भेद ही नहीं है तो शांकरभाष्य के आरम्भ में `युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः....... ' आदि कहे गये वाक्य निरर्थक हो जायेंगे । भेद प्रतीति के कारण का भी अपलाप नहीं हो सकता क्योंकि कार्य के होने पर कारण का होना अनिवार्य है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि भेद प्रतीति कार्य नहीं है क्योंकि कार्य के न होने पर उसे या तो नित्य होना चाहिए या तुच्छ । परन्तु भेद प्रतीति को अद्वैती भी नित्य या तुच्छ नहीं मानते हैं । अत: भेद प्रतीति अकार्य नहीं है । फिर, यह भी नहीं कहा जा सकता है कि

---

५. शतदूषणी, वेदान्तदेशिक, सं० वी० डी० रामास्वामी, अर्मेनियनगार्डन्स, मद्रास, १९७४, पृ० ७०-७१ ।

६. वही, पृ० ७१

भेद प्रतीति का कारण निरूपित करना कठिन है क्योंकि कार्य से कारण निरूपित होता है । यहाँ कार्यरूप भेद की प्रतीति विद्यमान है और इस प्रतीति के कारण के रूप में जो कुछ होगा वही कारण है । पुनः, यदि यह कहा जाय कि भेदरूप कार्य के विद्यमान होने से यदि उसका कोई कारण मानना ही पड़ता है तो कालान्तर में 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि प्रमाणों से इस भेद-प्रतीति का बाध हो जाता है । अतः यदि भेद नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि अद्वैतियों का बाधक प्रमाणभेद ग्रहण करके ही बाध करता है । संक्षेप में, भेद ज्ञान के बिना भेदाभाव का ज्ञान असंभव है[7]।

पुनश्च, अद्वैतवेदान्तियों के पूर्वोक्त विकल्प पर ही प्रश्न किया जा सकता है कि अद्वैती स्वरूप और धर्म में भेद मानते हुए विकल्प करते हैं अथवा बिना माने विकल्प करते हैं । प्रथम पक्ष संगत नहीं है क्योंकि भेद को मानकर विकल्प करना व्यर्थ है । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ विकल्प की संभावना नहीं है क्योंकि भिन्नार्थक शब्दों में ही विकल्प हो सकता है । एकार्थक शब्दों में तो पर्यायिता हो सकती है । यदि यह कहा जाय कि भेद की जो प्रतीति होती है उसे लेकर विकल्प किया जाता है और परमार्थ विमर्श होने पर उसका खण्डन किया जाता है तो प्रश्न यह उठता है कि यह परमार्थ विमर्श पारमार्थिक है अथवा यह भी प्रतीति जैसा ही है । इस प्रकार विकल्प करने पर और विकल्प न करने पर, दोनों स्थितियों में भेद अवश्य सिद्ध होगा क्योंकि भेद का खण्डन विकल्प से ही प्रारम्भ होता है[8]।

पुनश्च, यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि अद्वैतियों का अभेद स्वरूप है या धर्म ? यदि अभेद स्वरूप है तो भेद-भ्रम कदापि नहीं हो सकता क्योंकि विषय के प्रत्यक्ष होने पर उसका स्वरूप भी ज्ञात हो जाता है

---

७. वही पृ० ७२

८. वही, पृ० ७२

और चूंकि विषय का स्वरूप अपने से अभिन्न है इसलिए भेद का आरोप नहीं हो सकता और यदि अभेद धर्म है तो भेद स्वतः सिद्ध हो जायेगा क्योंकि धर्म-धर्मी भाव भेद केबिना सम्भव नहीं है । अतः भेदस्वरूप का अपलाप करने वाले निःसन्देह अभेदस्वरूप का भी अपलाप करते हैं । वास्तव में, सर्वत्र न तो अभेद माना जा सकता है और न भेद[९]।

अतः अद्वैतियों के पूर्वोक्त दोनों विकल्पों के साथ-साथ एक अन्य विकल्प, भेद उभय रूप है, की भी आवश्यकता है । प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से भिन्न है, इस व्यवहार का कारण भेद है । यह व्यवहार कहीं स्वरूप से होता है और कहीं धर्म से । शुक्ति-रजत में भ्रम शुक्तित्व रूप धर्म भेद की प्रतीति न होने से होता है । अतः भेद और अभेद दोनों मानना आवश्यक है ।

जगत्-मिथ्यात्व के लिए दृश्यत्व युक्ति की अबोधता

शांकरवेदान्तियों के अनुसार शुक्ति-रजत की भांति जगत् दृश्य होने के कारण मिथ्या है । यहां प्रश्न उठता है कि `मिथ्या` शब्द का अर्थ क्या है ? अद्वैतियों के `मिथ्यात्व` के अर्थ को ध्यान में रखते हुए उसे सात विकल्पों में विश्लेषित किया जा सकता है --(i) तुच्छत्व (ii) अन्यथा ख्याति का विषय (iii) सदसद् से विलक्षणत्व (iv) कुछ उपाधियों के रहते त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगित्व (V) निजस्वरूप के अत्यन्ताभाव के अधिष्ठान पर आश्रितत्व (vi) सत् से भिन्नत्व (vii) कुछ अन्य[१०]।

उपरोक्त सातों विकल्पों में प्रथम दो विकल्प महत्वहीन हैं क्योंकि जगत् शशशृंग की भांति तुच्छ नहीं है क्योंकि यह अनुभव के विपरीत

---

९. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० ३४-३५
१०. वही, पृ० १०१

है और शांकर अनुयायी भी इसे स्वीकार नहीं करेंगे।[११] तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि सदसद् विलक्षणत्व एक अप्रसिद्ध विशेषण है। जगत् का सत् और असत् से विलक्षण होना किसी भी रूप में मान्य नहीं हो सकता है।[१२]

चतुर्थ विकल्प भी ठीक नहीं है। जगत्-मिथ्यात्व का यह अर्थ नहीं हो सकता है कि जगत् सत्य प्रतीत होता है तो भी उसका निषेध हो सकता है क्योंकि उस निषेध का यदि आगे निषेध नहीं है तो यह या तो स्वरूपतः ब्रह्मरूप होगा या उससे भिन्न होगा। प्रथम अर्थ विशिष्टाद्वैत को इस रूप में स्वीकार है कि जगत् ब्रह्म का अंश है। यदि जगत् का निषेध हो सकता है और यदि साथ ही साथ वह ब्रह्म से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न भी है तो निषेध स्वयं ब्रह्म पर भी लागू होगा। यदि दूसरा विकल्प लिया जाय तो निषेध की व्याख्या से अनुमित होने के कारण उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

पंचम अर्थ भी सम्भव नहीं है क्योंकि जगत्-मिथ्यात्व का अर्थ जगत् का, एक वस्तु में जहां उसका अभाव है, न दीखना मात्र होना है क्योंकि यह सिद्ध नहीं हो सकता कि ब्रह्म में जगत् का पूर्णतः अभाव है। प्रत्यक्ष से यह कहना असम्भव है कि जहां जगत् प्रतीत होता है, वहां उसका अभाव है और यदि जगत् का ही प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान असम्भव हो जायेगा।[१३]

---

११. वही पृ० १०१

१२. 'The third argument is untenable since for a non-advaitin Sadasad-Vilakṣaṇatva is a non-established qualification (aprasiddha vis'eṣaṇa). . . . A thing must be either real or unreal and to say that it is different from xxxxxxxxxxxxxx both is a self-contradiction.' वही, पृ १०१-२

१३. '. . . . . If there were no perception of the Universe the inference, which is based on perception, is also not possible.' वही पृ० १०२

सिद्धसाधन दोष होने के कारण छठां अर्थ भी ठीक नहीं है । अद्वैतियों के अनुसार जगत्-मिथ्यात्व को उस रूप में ग्रहण किया जा सकता है कि वह सत्यभूतब्रह्म से व्यतिरिक्त है । इसका उत्तर यह है कि विशिष्टाद्वैत जगत् को ब्रह्म से व्यतिरिक्त मानता है । यद्यपि वह ब्रह्म से पृथक् नहीं हो सकता है, फिर भी यदि यह कहा जाता है कि जगत् मिथ्या है क्योंकि वह सत्यभूत ब्रह्म से व्यतिरिक्त है तो उत्तर यह है कि सत्तायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं । जो स्वरूपत: सत् है वह अन्य सत् सत्ता से व्यतिरिक्त होने के कारण असत् नहीं हो सकता है, जैसे घट अन्य घट से व्यतिरिक्त होने पर भी अघट नहीं हो सकता है।[१४]

अन्तिम अर्थ भी ठीक नहीं है । यदि `मिथ्या` का कुछ अर्थ है तो यह कहा जा सकता है कि क्या इस शुक्ति-रजत के विषय में कुछ स्वीकार किया जा सकता है और दुकान के रजत को अस्वीकार ? प्रथम विचार प्रत्यक्ष के विपरीत है जबकि द्वितीय विचार में मिथ्यात्व अप्रसिद्ध है।[१५]

अत: जगत्-मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त दृश्यत्व अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से खण्डित हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्ष से यही सिद्ध होता है कि जगत् सत्य है । अत: जगत् का निषेध सम्भव नहीं है । दृश्यत्व के आधार पर जगत्-मिथ्यात्व को सिद्ध करने का अनुमान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार `अग्नि शीतल है` यह अनुमान अग्नि के ताप के प्रत्यक्ष से नष्ट हो जाता है ।

अब प्रश्न उठता है कि `दृश्यत्व` का क्या अभिप्राय है ?

---

१४. वही, पृ० १०३

१५. वही, पृ० १०३-४

क्या इसका अभिप्राय बाह्येन्द्रिय इन्द्रियों के विषय से है (बाह्येन्द्रियत्व) ? अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय से है (प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्वम्) ? अथवा ज्ञान के विषय से है (ज्ञानविषयत्वम्) ? अथवा दृश्य विषय के प्रत्यय से है (दृग्व्यतिरिक्तत्वम्) ? अथवा कुछ अन्य से है (अन्यत् किंचित्) ?[१६]

उपर्युक्त विकल्पों में से कोई भी विकल्प जगत्-मिथ्यात्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है । प्रथम विकल्प के विषय में कहा जा सकता है कि ऐसे अनेकों पदार्थ हैं जो बाह्येन्द्रिय इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हैं फिर भी सत्य हैं । ठीक यही बात द्वितीय विकल्प पर भी लागू होती है । प्रत्यक्ष विशेषण के जोड़ने पर भी प्रथम विकल्प की कमियां दूर नहीं हो सकती हैं । अनैकान्तिक दोष के कारण तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है । यदि कोई वस्तु इस कारण मिथ्या है कि वह प्रत्यक्ष का विषय है तो फिर ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध होगा क्योंकि वह भी इस या उस अर्थ में ज्ञान का विषय है । 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' आदि वाक्य इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ब्रह्मज्ञान का विषय है ।[१७] चतुर्थ विकल्प भी ठीक नहीं है । यदि दृश्यत्व का अर्थ ब्रह्म से भिन्न होता है तो प्रश्न उठता है कि यह भिन्नता सत् है अथवा मिथ्या । स्वयं अद्वैतियों के अनुसार यह भिन्नता सत् नहीं है अपितु मिथ्या है । दूसरे शब्दों में, ब्रह्म का जगत् से भेद मिथ्या है । अतः यह हेतु भी ठीक नहीं है ।

---

१६. वही, पृ० १०४

१७. '. . . . For the scriptural texts and the Vedānta aphorisms indicate that Brahman is the object of knowledge.'
_वही पृ० १०४-५

अत: जगत-मिथ्यात्व को न्याय प्रमाण से सिद्ध करने का अद्वैतियों का प्रयास व्यर्थ है[१८]।

<u>व्यावर्तमानत्व युक्ति का खण्डन</u>

पूर्व समस्या को एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। सत्ता सदैव अपरिवर्तित रहती है जबकि उसके विषय सदैव परिवर्तित होते रहते हैं। अत: वे मिथ्या हैं।

इस तर्क को एक न्यायवाक्य के आकार में रखा जा सकता है। घट आदि अपरमार्थ हैं क्योंकि वे व्यावर्तमान हैं। जो व्यावर्तमान है, वह मिथ्या है जैसे रज्जु में प्रतीयमान सर्प। इसके विपरीत, जो सत् है, वह व्यावर्तमान नहीं है जैसे रज्जु जो सर्प का अधिष्ठान है अथवा समस्त सांसारिक वस्तुओं का अधिष्ठानभूत ब्रह्म। ब्रह्म कभी व्यावर्तित नहीं होता, इसलिए वह सत् है। ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुयें व्यावर्तमान हैं, अत: मिथ्या हैं। व्यावर्तमान को भी सत् मान लेने पर सत् और मिथ्या का विभाग असम्भव हो जायेगा[१९]।

उपरोक्त हेतु की सार्थकता के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि व्यावर्तमानत्व का क्या अर्थ है ? क्या इसका अर्थ (i) किसी वस्तु से भिन्नत्व अथवा (ii) किसी देश में अविद्यमानत्व अथवा(iii)प्रध्वंसत्व

---

१८. 'We may therefore draw the conclusion that the syllogistic argument inquestion does not establish the theory that the world is illusory.'-वही, पृ० १०५

१९. '.........It that which does not persist were real then it would not be possible to make a distinction between the real and the illusory.'-वही, पृ० १०५

अथवा (iv) प्रतिपन्न उपाधि में निषेध प्रतियोगित्व अथवा (v) कभी कहीं प्रकाशमानत्व अथवा (vi) इन सबसे भिन्न कुछ ?[20]

किसी वस्तु से भिन्नत्व व्यावर्तमानत्व का अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि यदि व्यावर्तमानत्व का अर्थ यह होगा तो ब्रह्म मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। शंकराचार्य शारीरकभाष्य के प्रारम्भ में कहते हैं कि अन्धकार एवं प्रकाश की भांति विरुद्ध धर्म वाले युष्मदस्मत् प्रत्यय विषय-विषयी का इतरेतर भाव नहीं हो सकता है। ब्रह्म युष्मत् अर्थ से भिन्न है। जो दूसरे से भिन्न है, उसमें अद्वैती व्यावर्तमानत्व मानते हैं और जहां व्यावर्तमानत्व है वहां मिथ्यात्व भी मानते हैं। ब्रह्म में व्यावर्तमानत्व होने के कारण ब्रह्म मिथ्या सिद्ध होगा। यदि अद्वैती यह कहते हैं कि ब्रह्म में स्थित ब्रह्म से भिन्नत्व मिथ्या है तो परमार्थ में उनका ऐक्य हो जायेगा। जिन दो धर्मों का परमार्थ रूप में ऐक्य होता है, वे दोनों परमार्थ ही सिद्ध होंगे। इस प्रकार प्रपंच परमार्थ ही सिद्ध होगा, मिथ्या नहीं। यदि अद्वैती प्रपंच को मिथ्या मानते हैं और उस मिथ्याप्रपंच से ऐक्य मानते हैं तो मिथ्याभूत वस्तु से ऐक्य होने के कारण ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध होगा अथवा सत्यभूतब्रह्म से प्रपंच का ऐक्य होने के कारण प्रपंच सत्य सिद्ध होगा।[21]

द्वितीय अर्थ भी ठीक नहीं है क्योंकि यह मिथ्यात्व साधक हेतु नहीं है। शुक्ति-रजत को मिथ्या सभी मानते हैं। प्रश्न यह है

---

२०. वही, पृ० १०५-६

२१. "........If Brahman be identical with the illusory world, Brahman itself would be illusory or the world would become real in so far as it is identical with the real Brahman.'
वही, पृ० १०६

कि यहाँ मिथ्या मानने का कारण क्या है ? क्या अन्यत्र रजत के अविद्यमान होने के कारण इसे मिथ्या माना जाता है ? वास्तव में, दृश्य शुक्ति में रजत के अविद्यमान होने के कारण मिथ्या माना जाता है । ऐसा न मानकर किसी एक विशेष रूप में अविद्यमान होने के कारण मिथ्यात्व मानने पर तो ब्रह्म भी मिथ्या होगा क्योंकि ब्रह्म भी न तो असत् रूप में रहता है और न सदसद् विलक्षण रूप में रहता है । अतः तब ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध होगा।[22]

दृष्टान्त के साधनविकल होने के कारण तृतीय अर्थ भी ठीक नहीं है । रज्जु में अध्यस्त सर्प का बाध हो जाने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि सर्प का नाश हो गया । नाश और बाध दोनों भिन्नार्थक हैं । नाश में पदार्थ का ध्वंस हो जाता है जबकि बाध दृश्य का अभाव है।[23] वास्तविक सर्प को छड़ी से मार देने पर ही यह कहा जा सकता है कि उसका नाश हो गया । इसके विपरीत, जब रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है तब कहा जा सकता है कि उसका बाध हो गया । अतः प्रध्वंसत्व व्यावर्तमानत्व नहीं हो सकता है । उससे मिथ्यात्व कदापि सिद्ध नहीं होगा ।

चतुर्थ अर्थ भी ठीक नहीं है क्योंकि यह सिद्ध नहीं हो सकता है । उदाहरण के लिए, 'यह घट है' यह अनुभव किसी भी काल में बाधित नहीं होता है, जैसे 'यह रजत है' बाधित होता है । इसलिए घट की सत्ता है । अतः निषेध प्रतियोगित्व रूप व्यावर्तमानत्व सिद्ध नहीं है।[24]

---

२२. वही, पृ० १०६

२३. 'प्रतिपन्नस्य नेति निषेधो बाधः ; विनाशस्तु ध्वंसप्रतियोगिकस्य स्वरूपप्रच्युतिः' शतदूषणी, पृ० ८६

२४. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १०६-७

अप्रयोजक हेतु के कारण पंचम अर्थ भी ठीक नहीं है। अद्वैतियों का कथन तो सत्यत्व साधक है। यदि कहीं किसी समय में कोई वस्तु विद्यमान है तो इसका तात्पर्य यही है कि वह वस्तु सत्य रूप में विद्यमान् है। अतः इससे सत्यत्व ही सिद्ध होगा, मिथ्यात्व नहीं। कालान्तर में उस वस्तु का प्रकाश नहीं होता तो उसका कारण मिथ्यात्व नहीं है अपितु जानने के लिए अपेक्षित सामग्रियों का अभाव है।[२५]

छठां अर्थ भी नहीं हो सकता है क्योंकि उक्त पांचों अर्थों से भिन्न व्यावर्तमानत्व का कोई अन्य अर्थ नहीं मिलता है।

पुनश्च, अद्वैत मत में जो मिथ्या नहीं है वह व्यावर्तित नहीं होता है। उनके अनुसार ब्रह्म मिथ्या नहीं है क्योंकि सबसे भिन्न होने के कारण वह सबसे व्यावर्तित है। अद्वैतियों के इस कथन में जो विरोध है उसे वे स्वयं ही जान सकते हैं, बताने की आवश्यकता नहीं है।[२६]

अतः व्यावर्तमानत्व-युक्ति से प्रपंचमिथ्यात्व सिद्ध करना असंभव है।

दृग्दृश्य-सम्बन्ध की संभावना

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार दृग्-दृश्य (विषयी-विषय) सम्बन्धाभाव से भी प्रपंचमिथ्यात्व सिद्ध होता है। दृश्य का अपना स्वरूप तथा

---

२५. वही, पृ० १०७

२६. "The negative concomitance viz; 'that which is not illusory does not vary' is also untenable. Brahman is not illusory but never the less it varies in the sense that it is other than everything."
वही, पृ० १०७

चैतन्य अथवा दृक् से इसका सम्बन्ध समझाना असम्भव है। इसके समर्थन में मुख्यत: दो युक्तियां दी गयी हैं— प्रथम युक्ति, ज्ञानमीमांसकीय है। उसके अनुसार दृक्-दृश्य का सम्बन्ध तर्कत: सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि तार्किक आधार पर यह अनुपयुक्त सिद्ध हो जाता है। द्वितीय युक्ति, तत्त्वमीमांसकीय है। इसके अनुसार चैतन्य अथवा दृक् का किसी भिन्न वस्तु से सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

ज्ञानमीमांसकीय युक्ति इस प्रकार है - सम्बन्ध के लिए सम्बन्धित तत्त्व (relata) आवश्यक है। तत्त्वों के अभाव में सम्बन्ध संभव नहीं है। प्रश्न यह है कि यह सम्बन्ध तत्त्वों से किस प्रकार सम्बन्धित है? यदि यह तत्त्वों के लिए कुछ भी नहीं है तो वे परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। यहां अनवस्था दोष की भी सम्भावना हो जाती है क्योंकि सदैव नये सम्बन्धों की आवश्यकता पड़ती है। यदि सम्बन्ध को भास मात्र भी लिया जाय तो भी उसके स्वरूप के समझने में कठिनाई पड़ती है। अब, प्रश्न है कि दृक्-दृश्य का क्या सम्बन्ध है? बाह्य सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि दृक् स्थूल वस्तु है। आन्तरिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि चेतन तो विषय का गुण नहीं है। और विषय का स्वरूप चैतन्य (दृक्) का विरोधी है। दृक् और दृश्य में अभेद भी नहीं हो सकता क्योंकि दोनों विरुद्ध धर्म वाले हैं।

अद्वैतवेदान्तियों की उपरोक्त युक्तियों की आलोचनात्मक व्याख्या में कहा जा सकता है कि यदि दो वस्तुओं के बीच तर्कसंगत रूप से सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि सम्बन्धित तत्त्व (relata) मिथ्या है। शश और शृंग में कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी दोनों सत् हैं। यदि तत्त्वों को इस आधार पर मिथ्या माना जाता है कि उनका सम्बन्ध अनुभवगम्य नहीं है तो दृक्-दृश्य दोनों को मिथ्या मानना चाहिए।

इसका कोई औचित्य नहीं है कि एक को सत् और दूसरे को मिथ्या मान लिया जाय ।[२७] इसके विपक्ष में अद्वैतियों का यह कथन कि कुछ मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं सिद्ध है जबकि विषय चैतन्य पर निर्भर है तो इसका उत्तर यह है कि स्वयं सिद्ध चैतन्य के आधार पर विषयों को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता । यहाँ, यह प्रश्न भी सम्भव है कि अद्वैतवेदान्त किस आधार पर यह मानता है कि चैतन्य स्वप्रकाश (स्वयं सिद्ध) है और घट इत्यादि नहीं है ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि चैतन्य को अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य चैतन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती जबकि विषय का स्वभाव इसके विपरीत है और वह अभिव्यक्ति के लिए चैतन्य (विषयी) पर निर्भर है । किन्तु वस्तु-स्थिति यदि यह है तो यह सिद्ध है कि विषय चैतन्य से सम्बन्धित है और यदि यह सम्बन्ध न माना जाय तो विषय को भी चैतन्य की भाँति स्वयंसिद्ध मानना पड़ेगा । अतः यह मानना आवश्यक है कि विषय विषयी से सम्बन्धित है और इस कारण दोनों के सम्बन्ध का खण्डन असंगत है ।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि चैतन्य या ब्रह्म का विषय से क्या सम्बन्ध है ? यदि इसके लिए नाम देना आवश्यक है तो इसे विषय-विषयी भाव सम्बन्ध कहा जा सकता है और 'ज्ञानगत व्यवहार ज्ञानकत्व-योग्यता' इसकी परिभाषा है । यदि कोई विषय अनुभवगम्य है तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता, भले ही उसकी परिभाषा न दी जा सके । यदि

---

२७. 'If the relata are held to be illusory on the ground that their relation is unintelligible, then both the subject and the object should be admitted to be illusory. There is no justification for holding that only one of the relata is real and the other is illusor

वही, पृ० १०६

ईख के रस और दूध के स्वाद के अन्तर को परिभाषित नहीं किया जा सकता है तो उसका ख सण्डन भी नहीं किया जा सकता ।

पुनश्च, यह भी कहना ठीक नहीं है कि सम्बन्ध की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती और सम्बन्ध की सम्पूर्ण धारणा गलत सिद्धान्त पर आधारित है । जो सम्बन्ध दो पदार्थों को सम्बन्धित करता है, उसे पदार्थों से सम्बन्धित होने के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं पड़ती है । `सम्बन्ध` शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाता है कि सम्बन्ध वह है जो दो वस्तुओं को सम्बन्धित करता है या व्यावहारिक उपयोगिता उत्पन्न करता है[25] हम केवल यही कह सकते हैं कि वस्तुयें एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । परन्तु उस सम्बन्ध की व्याख्या के लिए किसी अन्य सम्बन्ध को मानना व्यर्थ है । यदि सम्बन्ध को सम्बन्ध और सम्बन्धित तत्त्व (relata) दोनों माना जाय तो आत्मव्याघात उत्पन्न हो जाता है । इसलिए दृक्-दृश्य के बीच सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार मानना आवश्यक है । अत: दृक्-दृश्य (विषयी-विषय) सम्बन्धाभाव से प्रपंचमिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है ।

<u>ब्रह्म की उपादान कारणता</u>

ब्रह्मजगत् का उपादान कारण है, ऐसा मानने पर भी जगत् को मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है । उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहा गया है । परन्तु अद्वैतियों के अनुसार जगत् को मिथ्या स्वीकार कर लेने पर ही ब्रह्म का उपादानकारणत्व समझा जा सकता है ।

ब्रह्म का उपादानकारणत्व तीन प्रकार से समझा जा सकता है : (i) जगत् ब्रह्म का उसी प्रकार परिणाम है जिस प्रकार घट मृत्तिका

---

२५. `वस्तुनोर्विशिष्टव्यवहार कारणस्वभावत्वम्` तत्त्वमणि, पृ० ८५

का । यादव प्रकाश का यह मत ब्रह्मपरिणामवाद कहलाता है । (ii) सूक्ष्म चित्-अचित् विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है । यह विशिष्टाद्वैत का मत है । (iii) ब्रह्म जगत् के मिथ्यावभास का आधार है । अद्वैतवेदान्त का यह मत विवर्तवाद कहलाता है । अद्वैती प्रथम दो मतों का खण्डन करते हैं और अन्तिम मत (विवर्तवाद) का समर्थन । उनके अनुसार विवर्तवाद ही ब्रह्म के उपादानकारणत्व की उचित व्याख्या करने में समर्थ है।[29]

श्रुतियों में ब्रह्म को निर्विकार और कूटस्थ कहा गया है । अतः श्रुतिविरुद्ध होने के कारण यादवप्रकाश का ब्रह्मपरिणामवाद ठीक नहीं है । ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता । यहां यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म के निर्विकार होने पर भी उसका एक अंश प्रपंचरूप में परिणत होता है अथवा एक विशेष काल में यह प्रपंचरूप में परिणत होता है जबकि अन्य कालों में यह निर्विकार ही रहता है । परन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म निरवयव है और त्रिकालाबाधित है।[30]

द्वितीय मत भी ठीक नहीं है क्योंकि इस मत के अनुसार अचित् ही वास्तव में परिवर्तित होता है जबकि चित् का स्वरूप इस परिवर्तन से अप्रभावित रहता है । अद्वैतियों के अनुसार इस स्थिति में तो अचित् ही उपादान कारण सिद्ध होगा, ब्रह्म नहीं । इस समस्या के समाधान हेतु यदि यह कहा जाय कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म उपादान कारण है तो उस स्थिति में ब्रह्म में ही परिवर्तन आ जायेगा । पुनः, यदि यह माना जाय कि चित्,

---

२९. 'विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः
वेदान्तवादे परिणामवादः।' संक्षेप शारीरक, २. ६१

३०. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० ११२

अचित् और ईश्वर मिलकर जगत् रूप कार्य का आरम्भ करते हैं तब सभी कार्यों में स्वभावत्रय की उपलब्धि होगी जैसे शुक्ल, कृष्ण और रक्त तन्तु से निर्मित पट में तीनों रंग उपलब्ध होते हैं। अथवा रांगे और तांबे से निर्मित कांस्य की तरह प्रपंच इन तीनों (चित्, अचित् और ईश्वर) के स्वभाव का होगा। अथवा जिस प्रकार नमक की खान में पड़ी हुई लकड़ी में नमक का गुण बहुतायत से मिलता है उसी प्रकार यदि जगत् ब्रह्म का कार्य है तो जगत् में ब्रह्म की प्रधानता होनी चाहिए। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। अत: चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को जगत् का उपादान करण नहीं माना जा सकता है[31]।

पुनश्च उपनिषदों में मृत्तिका और घट का जो दृष्टान्त उपादानकरण की सिद्धि के लिए दिया गया है, वह इस बात की ओर संकेत करता है कि विषय का स्वरूप ही उपादानकारण का निर्माता है। परन्तु श्रुतियां ब्रह्म को निर्विकार एवं कूटस्थ बताती हैं। अत: जगत् ब्रह्म पर मिथ्या-आरोप है, ऐसा मानकर ही दोनों के विरोध का परिहार किया जा सकता है। जिस प्रकार मिथ्या सर्प का अधिष्ठान रज्जु ही सर्प के आभास का कारण है, ठीक उसी प्रकार प्रपंचावभास का अधिष्ठानरूप ब्रह्म ही प्रपंच का उपादान कारण है।

अद्वैतियों के उपरोक्त मत के खण्डन में यह कहा जा सकता है कि नि:सन्देह यह सत्य है कि चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म को उपादानकारण मानने पर, कारणत्व अचित् में सिद्ध होगा और ब्रह्म को उपादानकारण तभी माना जा सकता है जबकि वह विकारात्मक हो। परन्तु वास्तविकता यह है कि जहां अचित् विकार का सीधे अधिष्ठान है, वहीं ब्रह्म विकार का अप्रत्यक्षत: अधिष्ठान है अर्थात् अचित् के माध्यम से अधिष्ठान है। अद्वैत मत में भी विवर्त का प्रत्यक्षत:

---

३१. वही, पृ० ११२

आश्रय अविद्या है, फिर भी अविद्या का आश्रय होने के कारण प्रपंच ब्रह्म की मिथ्या अभिव्यक्ति है, ऐसा कहा जाता है । इसी प्रकार यद्यपि विकार अचित् से सम्बन्धित है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि अचित् का आश्रय होने के कारण ब्रह्म ही उसे विकृत करता है । इस मत में ब्रह्म किसी प्रकार के विकार का विषय भी नहीं होगा । बालक का युवा होना, युवक का पुरुष होना आदि दृष्टान्त के द्वारा यही बात समझायी गयी है । इस दृष्टान्त में परिवर्तन की ओर संकेत करने वाली भिन्न अवस्थायें वास्तव में शरीर की अवस्थायें हैं । शरीर का अधिष्ठान रूप आत्मा इन सब से अप्रभावित रहता है । फिर भी बाल, युवा आदि शब्दों का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया जाता है । अत: ब्रह्म के कारणत्व को भी इसी अर्थ में लेना चाहिए । परिवर्तन की भिन्न अवस्थायें यद्यपि ब्रह्म से सम्बन्धित हैं फिर भी ब्रह्म का निर्विकार स्वरूप अप्रभावित रहता है । अवस्थायें तो आगन्तुक हैं और वे अपने अधिष्ठानसे अपृथक् रूप से सम्बन्धित हैं । अत: ब्रह्म में अनेक अवस्थाओं के स्वीकार करने पर भी उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता है[३२]।

पुनश्च, यदि कोई कार्य निश्चित कारकों के संयोग से उत्पन्न होता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि कारण कारकों में विद्यमान गुणों को कार्य में भी अवश्य विद्यमान होना चाहिए । बालक के युवा होने पर बालक के शरीर में विद्यमान गुण और आत्मा में विद्यमान गुण तथा युवा के

---

३२. '.....The different states involving changes do belong to Brahman and yet the immutable character of Brahman remains unaffected. Avasthā or a state is a characteristic which is accidental and which is inseparably related to that which is substrate of it. Accordingly there is no defect whatsoever in admitting the different states in respect of Brahman.'
— वही, पृ० ११३-१४

शरीर और आत्मा में विद्यमान गुणों का परस्पर संकर नहीं होता है। शुक्ल, कृष्ण और रक्त तन्तुओं से निर्मित पट में इन तीनों रंगों का संकर नहीं होता है। शुक्लादि रंग नियत स्थान पर ही रहते हैं[33]। इसी प्रकार चिदंश का गुण चित् में, अचिदंश का गुण अचित् में, ईश्वर का गुण ईश्वर में पृथक् होने पर भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है।

पुनश्च, कारणता सिद्धान्त से सम्बन्धित श्रुतिवाक्य इस प्रकार हैं : `तदिदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्`, `तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते` आदि। इन वाक्यों पर ध्यान देने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि `अव्याकृत` शब्द से क्या केवल ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित होता है अथवा चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म प्रतिपादित होता है ? उत्तर यह है कि यहां केवल शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं है क्योंकि `अव्याकृत` शब्द उस रूप में ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रचलित नहीं है जिस रूप में ब्रह्म शब्द का साधारणतया प्रयोग होता है[34]। `तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते` इस वाक्य से भी सिद्ध होता है कि अव्याकृत शब्द शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादक नहीं है। तदिदं में `इदम्` शब्द यहां उस पदार्थ के लिए प्रयुक्त है जो प्रलय काल में नाम-रूप के विकारों से रहित होता है। यह अनुभव सिद्ध है कि `इदम्` शब्द का प्रयोग चित् एवं अचित् के अर्थ में हुआ है। अतः वाक्य के प्रथम भाग से यह अर्थ निकलता है कि चिदचिद् अपनी सूक्ष्मावस्था में व्यष्टि और समष्टि (whole and parts) रूप विकार से रहित होता है। अतः यह मानना आवश्यक है

---

३३. वही, पृ० ११४

३४. '....... Obviously the reference is not to the pure Brahman because the word avyākṛta is not current in respect of Brahman in the same way in which the term 'Brahman' itself is.'

वही, पृ० ११४-१५

कि प्रलय काल में भी चित् और अचित् सूक्ष्मावस्था में विद्यमान रहते हैं । ब्रह्म की उपादान कारणता को अन्य श्रुति वाक्यों से भी सिद्ध किया जा सकता है : `तम एकी भवति` से भी यही अर्थ व्यंजित होता है कि प्रलयकाल में तमस् (अचित्) अपने सूक्ष्मावस्था में रहता है और `यस्य तमः शरीरम्` से स्पष्ट होता है कि वह सूक्ष्म तमस् ईश्वर का शरीर है । श्रुतियों के अन्य अनेक कारण वाक्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रलयावस्था में ब्रह्म का अस्तित्व है । अतः स्पष्ट है कि `अव्याकृत` शब्द सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादक है ।[35] `असदा इदमग्र आसीत्` `असदेवेदमग्र आसीत्` आदि श्रुति वाक्यों में भी असत् शब्द से सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है, शुद्ध ब्रह्म नहीं क्योंकि शुद्ध ब्रह्म मानने पर `असत्` शब्द का विरोध होता है । मृत्तिका और घट के दृष्टान्त से भी यही अर्थ व्यंजित होता है कि विशिष्ट ब्रह्म ही उपादान कारण है । अतः स्पष्ट है कि जहां ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों से कारण का निर्देश हुआ है वहां निर्विकार श्रुति बल से विशिष्ट ब्रह्म ही उपादान है ।

पुनश्च, अद्वैती यह स्वीकार करते हैं कि प्रलयवस्था में सूक्ष्म अविद्या ब्रह्म के साथ रहती है । अतः स्पष्ट है कि यद्यपि दोनों मतों (अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत) में ब्रह्म प्रपंच का उपादान कारण अप्रत्यक्ष रूप से ही है फिर भी विशिष्टाद्वैत मत अद्वैत मत से अधिक तर्कसंगत है क्योंकि विशिष्टाद्वैत मत प्रत्यक्ष के आधार पर जगत् को सत् मानता है तथा ब्रह्म को कूटस्थ एवं निर्विकार बताने वाले श्रुति वाक्यों से भी उसका कोई विरोध नहीं है । इसके अतिरिक्त, यदि कूटस्थ एवं निर्विकार ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली

---

३५. '.......Hence, it is ascertained that the word avyākrtam in the text under consideration refers to Brahman qualified by the individual selves and matter in their subtle or unmanifest form.'
वही, पृ० १६४-६५

श्रुतियों से ब्रह्म की उपादान कारणता का विरोध न हो तो उसका केवल एक ही उपाय है और वह यह है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मान लेना ।

माया की उपादान कारणता

कुछ शांकरवेदान्ती माया को जगत् का उपादान कारण मानते हैं, ब्रह्म को नहीं । उनके इस मत का आधार उपनिषद् का 'मायाम् तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' वाक्य है । उनके मत में यहां माया उपादान-कारण है, 'प्रकृति' शब्द को उपादानकारण के अर्थ में ही लेना चाहिए। माया शब्द मिथ्या अर्थ में ही प्रचलित है । अत: स्पष्ट है कि जगत् का उपादान कारण अपने स्वरूप में मिथ्या है और यदि कारण मिथ्या है तो कार्य भी मिथ्या होगा । अत: जगत्, जो माया का कार्य है, मिथ्या है ।

अद्वैतियों के उपरोक्त मत के खण्डन में वेदान्तदेशिक का कहना है कि अद्वैतियों ने उपनिषद् वाक्य के अर्थ को तोड़-मरोड़ दिया है । निष्पक्ष रूप से देखने पर यही अर्थ प्रतिपादित होता है कि माया न तो मिथ्या है और न तो जगत् उसका कार्य है । वाक्य में मिथ्यात्व को प्रकृति का गुण नहीं कहा गया है । इसके विपरीत, प्रथमत: माया निर्दिष्ट की गयी है और फिर यह कहा गया है कि वह प्रकृति है । दूसरे शब्दों में, माया उद्देश्य है, प्रकृति विधेय है और प्रकृति माया का गुण है[36]।

'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्ध:'[37] इस सम्पूर्ण वाक्य में मायिन और माया शब्द का तो प्रयोग किया

---

३६. शतदूषणी, पृ०२३८

३७. श्वेताश्वेतर उपनिषद्, ४.६

गया है परन्तु उनका तात्पर्य नहीं बताया गया है । निःसन्देह इस वाक्य का प्रयोग इन दोनों शब्दों को व्याख्यायित करने के लिए किया गया है । इसीलिए यह कहा गया है `मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्` अर्थात् माया महेश्वर की शक्तिरूपा प्रकृति है और उस माया नाम से कही जाने वाली शक्तिरूपा प्रकृति का अधिष्ठान परब्रह्म परमेश्वर है । उस परमेश्वर की शक्ति-रूपा प्रकृति के ही अंगभूत कारण-कार्य समुदाय से सम्पूर्ण जगत् है[३८]।

पुनश्च, यह कहा जा सकता है कि यदि माया शब्द से प्रकृति विवक्षित है तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रकृति उसी अर्थ में मिथ्या है जिस अर्थ में माया । परन्तु यहां स्पष्टतः माया मिथ्यात्व के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है । फिर, माया का प्रयोग केवल मिथ्या के ही अर्थ में सदैव नहीं हुआ है । माया सत् अर्थ में भी प्रयुक्त है । `यावन्तः पांसवो भुमेः संख्याता देवमायया` वाक्य में माया शब्द का प्रयोग संख्या के अर्थ में हुआ है और जो संख्या के अर्थ में प्रयुक्त है वह मिथ्या नहीं हो सकता है । सम्पूर्ण वाक्य की शब्दरचना पर ध्यान देने पर ह यही कहा जा सकता है कि यहां माया का प्रयोग विशिष्ट ज्ञान के अर्थ में हुआ है[३९]। इसी प्रकार अन्य अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं जहां माया का प्रयोग मिथ्या से भिन्न अर्थ में हुआ है ।

पुनश्च, यदि माया को उपादान कारण मान लिया जाय और उसे मिथ्या कहा जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता है कि कार्य भी मिथ्या होगा । `विलक्षणाधिकरण` प्रकरण ब से यह बात स्पष्ट है कि

---

३८. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० ११७

३९. '......Considering the context as well as the etymology, it is only proper to say that māyā here means a specific type of knowledge
वही, पृ० ११७

कार्य अपने कारण से भिन्न हो सकता है । उपादान कारण के मिथ्या होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उसका कार्य भी मिथ्या हो । वास्तव में यहां उपादानकारण मिथ्या नहीं है बल्कि सत् है।[४०] इसकी पुष्टि शास्त्रों के 'सद्विधा' से भी होती है ।

कार्य-प्रत्यय की सार्थकता

शांकरवेदान्त के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञेय तथा शुक्ति आदि के द्वारा वर्णित सारे कार्य मिथ्या होते हैं क्योंकि वे किन्हीं विकल्पों द्वारा सत्य नहीं हैं । इस प्रसंग में निम्नलिखित विकल्प संभव हैं —

(i) कार्य कारण से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होता है अथवा असम्बद्ध होकर? यदि सम्बद्ध होकर वह उत्पन्न होता है तो दोनों की सत्ता पहले से सिद्ध होने के कारण उनमें पूर्वापर भाव नहीं हो सकता और इसलिए उनमें कारणता नहीं हो सकती है । यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करें तो असम्बन्धित कारण से असम्बन्धित कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जिसका फल यह होगा कि या तो सब चीज सब चीज का कारण होगी या कोई चीज किसी का कारण नहीं होगी ।[४१]

---

४०. '.......even though the material cause be illusory, the effect of it need not be illusory. As a matter of fact the material cause is not illusory, but real.' वही, पृ० ११६-१८

४१. 'किं कारणेन कार्यं सम्बद्धमारभ्यते, उतासम्बद्धम् ? आद्ये सम्बन्धाश्रयतया द्वयोरपि सत्त्वाविशेषात् सव्येतरविषाणयोरिव किं कस्य कारणं कार्यं वा ? असम्बद्धत्वे तु असंबन्धाविशेषात् सर्वं सर्वस्य कारणंभवेत, न वा किंचित् कस्यचित् ।' शतदूषणी, पृ० २४०-४१

(ii) कार्य कारण से भिन्न होता है या अभिन्न ? यदि भिन्न होता है तो फिर सब कार्य सब कारण से उत्पन्न माने जाने चाहिए या कोई किसी से उत्पन्न नहीं माने जाने चाहिए । यदि अभिन्न होता है तब तो आत्माश्रय दोष होगा[42]।

(iii) कारण में कार्य पहले से रहता है या नहीं रहता है ? यदि कारण में कार्य पहले से रहता है तो फिर उत्पन्न कैसे किया जा सकता है क्योंकि पत्थरे पर अंकुर नहीं उगते या विश्वकर्मा भी पीले रंग को नीला नहीं कर सकते ।यदि पहले से रहता है तो फिर उसकी उत्पत्ति ही व्यर्थ होगी[43]।

इस प्रकार जब कार्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती तो फिर उसका नाश भी नहीं हो सकता[44]। श्रुतियां भी "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादि वाक्यों से कार्य के मिथ्यात्व को सिद्ध करती हैं । यह है अजातवाद ।

---

४२. "तथा कार्यं कारणाद्भिन्नम्, अभिन्नं वा ? पूर्वत्र भिन्नत्वाविशेषात् सर्वं सर्वतः स्यात् ; न वा कुतश्चित् । उत्तरत्राऽऽत्माश्रयप्रसंगः ।" वही, पृ० २४१ ।

४३. "किंच यदि कारणे पूर्वं कार्यमसत्,कथं तेन जनयितुं शक्यम् ? न हि-प्रत्ययोदकावसिक्तेष्वपि प्रस्तरेषु अंकुरा प्ररोहन्ति । न च पीतं विश्वकर्मणाऽपि नीलमुत्कीर्यते (कीर्यंत) । सत पूर्वमेव तत्सत्,सिद्धत्वादेव न साध्यं स्यात् । तत एव कारक व्यापारवैयर्थ्यं (नैरर्थक्यं) च ।" वही, पृ० २४१ ।

४४. "एवं जन्मनिऽनिरस्ते विनाशो पि निरस्त एव, तुल्यन्यायत्वात् ।" वही, पृ० २४१-४२

वैशान्तदेशिक ने इस अजातवाद का जो खण्डन किया है, वह इस प्रकार है —

(i) यह जो कहा गया कि कारण से सम्बद्ध होकर कार्य उत्पन्न होता है या असम्बद्ध होकर तो इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कारण से असम्बन्धित होकर कार्य उत्पन्न होता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए एक कारण का अन्य अनुकूल कारणों से सम्बन्धित होना अपेक्षित होता है जैसे- अंकुर की उत्पत्ति के लिए, बीज, मिट्टी और वायु, इन कारणों का परस्पर सम्बन्धित होना आवश्यक है। कार्य के साथ, सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं है। यदि यह कहा जाय तब तो फिर सब कारणों से सब कार्य उत्पन्न हो सकते हैं या फिर किसी कारण से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता तो इसका उत्तर यह है कि इस दोष की प्रसक्ति तो तब होती जब असम्बद्धत्व ही कार्योत्पत्ति का प्रयोजक होता। किन्तु यह बात यहां है नहीं, वरन् निश्चित शक्ति वाले पदार्थों की निश्चित कार्यों की उत्पत्ति करने में सामर्थ्य होती है, ऐसा अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है[४५]।

(ii) जो भिन्नत्व और अभिन्नत्व वाले विकल्प की बात थी, वह भी इसी तर्क से निरस्त हो जाती है क्योंकि दण्ड और चक्र इत्यादि से विलक्षण घटादि नामक कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। उपादान कारण से भी कार्य

---

४५. 'यत्तु असंबन्धाविशेषात् सर्वं सर्वस्य कारणं भवेदिति-तत् तदा स्यात्, यद्यसम्बद्धत्वमेव कार्यारम्भ प्रयोजकं स्यात्। न च तदस्ति; तत्तद्वस्तुनां प्रतिनियतशक्तीनां प्रतिनियत कार्यारम्भकत्वस्यान्वयव्यतिरेकि (क) सिद्धत्वात्।' वही, पृ० २४२

अत्यन्त भिन्न ही होता है क्योंकि न तो मिट्टी घड़े का काम दे सकती है और न घड़ा मिट्टी का ।[46]

(iii) यह जो कहा गया कि कारण में कार्य पहले से रहता है या नहीं रहता है ; इसका क्या यह अर्थ है कि कार्यद्रव्य कारण अवस्था में द्रव्य रूप से रहता है अथवा नहीं ? यदि यह अर्थ है तो यह कहा जा सकता है कि हाँ रहता है । लेकिन द्रव्य रूप से रहता है, कार्यरूप से नहीं रहता । इससे उसकी साध्यता या कार्यता का विरोध नहीं है । कार्यावस्था में पहुँचकर वही द्रव्य कार्य बन जायेगा और वही कारणों के व्यापार की सफलता होगी । इसी अर्थ में विशिष्टाद्वैत सत्कार्यवाद को मानता है ।[47] और यदि कारण में कार्य के होने के विषय में अद्वैतियों का यह अभिप्राय है कि कारणावस्था में कार्य की कार्यावस्था रहती है अथवा नहीं, तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि नहीं रहती है । यदि यह कहा जाय कि जो दशा नहीं रहती है वह कैसे उत्पन्न की जा सकती है तो यह शंका ही व्यर्थ है क्योंकि क्या किसी रहने वाली दशा को फिर से उत्पन्न हुई देखा जाता है ? यह कल्पना ही अदृष्ट पूर्व है ।

इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति सिद्ध हो जाने से समय आने पर कार्य का विनाश भी सिद्ध होता है । `वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्`

---

४६. `एतेन भिन्नत्वाभिन्नत्वविकल्पोऽपि निरस्तः, दण्डचक्रादिविलक्षणास्यैव घटादेस्तत्र उत्पत्तिदर्शनात् । उपादानेऽपि हि कार्यकारणयोः (उपादान-कारणकार्यावस्थयोः) अत्यन्तमेव-रूप ( भि ) दृश्यते ।`वही,पृ०२४२

४७. `यत्पुनः कारणे कार्यं (पूर्वं) सदसदिति -तत्रकोऽर्थः -? किं कार्यद्रव्यं कारणावस्थायां द्रव्यरूपेण विद्यते, न वेति ? तदा सदित्यंगी कुर्मः । तथाऽपि न साध्यत्वविरोध, अवस्थापत्तिक्रमेण तदुपपत्तेः । तत एव कारक व्यापार साफल्यं च । एतावानेव च नः सत्कार्यवादः ।`
वही,पृ० २४४

इत्यादि श्रुतिवाक्य तो केवल यह बताते हैं कि अन्य अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती । कार्योत्पत्ति का वे निरास नहीं करते हैं । इसीलिए इसके आगे ही 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' की उक्ति भी श्रुतियों में की गयी है[४८]। इसलिए तर्काभासों को छोड़कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का शरण लेने वाले और श्रुति वाक्यों की महत्ता को स्वीकार करने वाले हम सभी लोगों को चाहिए कि कार्यों की सत्यता को स्वीकार करें[४९]। इसी आधार पर यह स्वीकार करना चाहिए कि जगत् के कार्य होने पर भी वह मिथ्या नहीं है ।

श्रीनिवासचारी वेदान्तदेशिक की इन युक्तियों को पर्याप्त सत्य पाते हैं । अतएव इनके आधार पर वे भी अजातवाद का खण्डन करते हैं[५०]।

अविद्या-सिद्धान्त

अभी तक जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्त का विवेचन किया गया । किन्तु यदि अद्वैतवेदान्त में एक मात्र ब्रह्म ही सत् है और जगत् मात्र आभास है तो प्रश्न उठता स्वाभाविक है कि वह एक अनेक में कैसे प्रतीत होता है ? इस समस्या के समाधान हेतु अद्वैतियों ने अविद्या-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । अविद्या के कारण ही ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप में भासित होता है । अविद्या आवरण और विक्षेप करती है । आवरणशक्ति के द्वारा वह

---

४८. 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादिका तु श्रुतिरवयविद्रव्यान्तरनिरासपरेति सद्विद्यानिरूपणे व्यक्तमनुसन्धेयम् । अतएव 'मृत्तिकेत्येवसत्यम्' इत्यादावपि परमार्थसत्यत्वमेव विवक्षितमितिसिद्धम् ।' वही, पृ० २४५ ।

४९. 'अतः प्रत्यक्षादिशरणैः श्रुतिशरणैरपि कार्यजातस्य सर्वस्य सत्यत्वमेष्टव्यम्।' वही, पृ० २४५

५०. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १२०-२२

ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित कर देती है और फिर विक्षेपशक्ति के द्वारा ब्रह्म को अन्य प्रकार से प्रदर्शित करती है । इसके कारण ब्रह्मस्वरूप का अवधारण न होकर जगत् के नामरूपात्मक स्वरूप का अवधारण होता है । किन्तु अविद्या के दूर होने पर नामरूपात्मक जगत् की अवधारणा नहीं होती और केवल ब्रह्म का ज्ञान होता है । अविद्या को शंकराचार्य ने अध्यास कहा है । यह आत्मा की एक स्वाभाविक किन्तु कादाचित्क प्रवृत्ति है । इस अविद्या से कल्पित नामरूप को माया कहा जाता है।[५९] अविद्या और माया एकार्थक हैं । पुनः, जैसे आनुभविक जगत् अनिर्वचनीय है उसी प्रकार उसका मूल स्रोत अविद्या भी अनिर्वचनीय है क्योंकि उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत् । वह सत् और असत् से विलक्षण है ।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या अविद्या समस्या का संतोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकती है ? अद्वैतवेदान्त के विरोधी इसका निषेधात्मक उत्तर देते हैं । उनके अनुसार यह सिद्धान्त समस्या के हल करने के स्थान पर अनेक नवीन समस्यायें उपस्थित करता है तथा ज्यों-ज्यों इस पर विचार किया जाता है त्यों-त्यों यह अनेकानेक दार्शनिक गुत्थियों में उलझ जाता है । वास्तव में, अविद्या-सिद्धान्त का जितना खण्डन हुआ है उतना किसी अन्य दार्शनिक सिद्धान्त का नहीं । शंकराचार्य के बाद सर्वप्रथम रामानुजाचार्य ने अविद्या या माया के खण्डन में सात युक्तियां दीं । इन्हें सप्त अनुपपत्ति कहा जाता है । यहां इन्हीं सप्त अनुपपत्तियों को वेदान्तदेशिक की रीति से प्रस्तुत किया गया है ।

भावरूप अज्ञान की अनुपपत्ति

शांकरवेदान्तियों के अनुसार अज्ञान भावरूप है अर्थात्

---

५९. शारीरिक भाष्य, २.१.१४

अज्ञान केवल ज्ञान का अभाव या निषेधात्मक संप्रत्यय नहीं है जैसा कि विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं। अपने इस मत की पुष्टि वे प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति से करते हैं।

प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञान की भावरूपता इस आधार पर सिद्ध की जाती है कि ज्ञान के अभाव का प्रत्यक्ष होना असम्भव है क्योंकि दोनों परस्पर व्याघातक हैं। हमें प्रत्यक्ष का इस प्रकार ज्ञान होता है -- `अहं अज्ञः` यह अज्ञान का उदाहरण है। अब प्रश्न है कि यह अज्ञान भावरूप है या अभावरूप ? अद्वैतियों के अनुसार यह केवल ज्ञान के अभाव की अवस्था नहीं है बल्कि भावरूपात्मक है क्योंकि ज्ञान को स्वयं अपने अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। जिस वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता है यदि वह चेतना में है तो उसी समय उसके अभाव का कथन कैसे किया जा सकता है ? पुनश्च, यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण के द्वारा होता है। जब हम कहते हैं `अहम् अज्ञः` तो उस समय अज्ञान विद्यमान रहता है। अतः अन्य प्रमाणों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान ज्ञान के अभाव का विरोधी है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार यदि अज्ञान को भावरूप माना जाय तो कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी। जो भी भावरूप ज्ञात है उसका ज्ञान अपने ही स्वरूप के कारण होता है, किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। केवल निषेधात्मक वस्तु का ज्ञान किसी अन्य ज्ञान पर निर्भर करता है। वास्तव में अज्ञान का ज्ञान भावरूप में होता है, जैसे `अहम् अज्ञः` `अहम् मुग्धोऽस्मि`। अतः `अहम् अज्ञः` में भी अज्ञान भावरूप से अनुभूत होता है, केवल ज्ञान के अभाव रूप में नहीं।[५२]

---

५२. `न च भावरूपेऽप्यज्ञाने विरोध प्रसंगः, भावरूपत्वादेव स्वरूपेण निरूपयितुं शक्यत्वात्। अस्ति च स्वरूपेणैव प्रतीतिः, मुग्धोऽस्मि, मूढोऽस्मीत्यादिका। तस्मादहमज्ञ इत्यत्रापि तथैव भावरूप ज्ञानं प्रतीयते।` शतदूषणी, पृ० १८६ तथा अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १२५।

पुनश्च, अनुमान के द्वारा भी भावरूप अज्ञान को सिद्ध किया जा सकता है। यह अनुमान इस रूप में कहा जा सकता है--किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध ज्ञान के पूर्व कोई और तत्व होता है जो पूर्ववर्ती ज्ञान के अभाव से भिन्न होता है, जो ज्ञान के विषय को आच्छादित करता है और जो ज्ञान के साथ विद्यमान रहता है, क्योंकि वह उन वस्तुओं को प्रकाशित करता है जो पहले प्रकाशित नहीं थीं ; जैसे अन्धकार में प्रकाशित दीप उस स्थान पर उपस्थित अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है[53]। इस अनुमान का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि प्रत्येक ज्ञान के पूर्व भावरूप अज्ञान रहता है जो ज्ञान के उत्पन्न होते ही समाप्त हो जाता है। अज्ञान की यह अवस्था ज्ञान के पूर्ववर्ती अभाव से भिन्न है। जिस प्रकार प्रकाश द्वारा हटाया जाने वाला अन्धकार भावात्मक है उसी प्रकार अज्ञान भी भावात्मक है।

'अनृतेन हि प्रत्यूढा:, तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्'[54], नासदासीन्नोसदासीत् तदानीं तम आसीत् तमसागूढमग्रेप्रकेतम्'[55], 'इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते'[56] इत्यादि श्रुति वाक्यों में भी अविद्या को भावरूप ही कहा गया है।[57]

---

५३. 'विप्रतिपन्नं मानज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न-प्रदीपप्रभावदिति।' श्रुतभूषणी, पृ० १८९-९० ।

५४. छांदोग्य उपनिषद्, ८, ३, १ और २ ।

५५. यजुर्वेद, २, ८ और ६

५६. ऋग्वेद, ६, १७, १८

५७. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १२६

अद्वैतवेदान्तियों की उपरोक्त विचारधारा के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञान की भावरूपता सिद्ध नहीं हो सकती है। यदि अप्रत्यक्ष द्वारा अज्ञान भावरूप से ज्ञात होता है तो प्रश्न यह उठता है कि अज्ञान प्रत्यक्ष में इसके अनुरूप व्यक्त होता है या इसके विरोधी के रूप में व्यक्त होता है। यदि यह विरोधी के रूप में व्यक्त होता है तो अज्ञान को अभावात्मक मानने से जो कठिनाई उत्पन्न होती है, वह यहां भी उत्पन्न होगी। यदि अज्ञान ज्ञान का विरोधी है तो उसके ज्ञान के लिए उसके विरोधी का ज्ञान आवश्यक है। यदि वह ज्ञान विद्यमान है तो उसका अज्ञान, जो विरोधी है, अविद्यमान रहेगा। इस प्रकार अज्ञान का प्रत्यक्ष भी असम्भव है।[५८]

पुनश्च, यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष द्वारा जो अज्ञान ज्ञात होता है वह केवल विशिष्ट ज्ञान का विरोधी है, सामान्य ज्ञान का नहीं तो इसका उत्तर यह है कि यह व्याख्या ज्ञान के प्रागभाव वाले मत पर लागू नहीं होती। वह केवल उस विशिष्ट ज्ञान का विरोधी है जिसका प्रागभाव विचार का विषय है। द्वितीय विकल्प, अज्ञान ज्ञान का विरोधी नहीं है, भी संतोषजनक नहीं है क्योंकि इस प्रकार का कोई अनुभव नहीं होता है। 'अहम् अज्ञः' और 'अहम् मूढोऽस्मि' में अज्ञानी और मूर्ख अज्ञान के निषेधात्मक पक्ष का ही निर्देश करते हैं। प्रध्वंस एवं विनाश के समान 'न' का प्रयोग न होते हुए भी ये शब्द किसी भावरूपता का निर्देश नहीं करते हैं।[५९]

पुनश्च, अद्वैतियों का अनुमान भी अज्ञान को भावरूप सिद्ध करने में असफल है। उसमें अनेक तार्किक दोष हैं। अप्रकाशितार्थ-प्रकाशकत्व में प्रकाशकत्व के छः अर्थ सम्भव हैं --(i) क्या यह ज्ञान है ? अथवा

---

५८. वही, पृ० १२६

५९. वही, पृ० १२७

(ii) ज्ञान का कारण है ? अथवा (iii) इन्द्रियों का सहायक है ? अथवा (iv) ज्ञान का कारणमात्र है ? अथवा (v) प्राकट्य का कारण है ? अथवा (vi) परोक्ष या अपरोक्ष रूप से केवल व्यावहारिक प्रयोग का कारण है ? प्रथम अर्थ सम्भव नहीं है क्योंकि दीप का प्रकाश ज्ञान नहीं है। द्वितीय अर्थ भी ठीक नहीं है क्योंकि पक्ष में उसका अभाव है अर्थात् वह स्वरूप से ही असिद्ध है। तृतीय भी पक्ष में विद्यमान नहीं है। इन्द्रियों का जो सहकारी है वह वैध ज्ञान का हेतु नहीं है। चतुर्थ अर्थ भी इन्द्रियों के लिए स्पष्ट प्रमाण नहीं है। पंचम अर्थ इस दृष्टान्त पर लागू नहीं होता। उसमें स्वरूपासिद्ध दोष है। षष्ठ अर्थ भी इन्द्रियों के लिए अव्याप्ति होने के कारण पर्याप्त नहीं है।[६०]

इन आलोचनाओं का मूल आधार यह है कि न्याययुक्ति में दिया हुआ प्रमाण अपर्याप्त है। जो पहले से व्यक्त नहीं है ज्ञान केवल उसे व्यक्त कर सकता है। किसी वस्तु की अभिव्यक्ति उसके विरोधी को समाप्त करने में ही नहीं वरन् उस वस्तु को परिस्थापित करने से होती है और यह केवल ज्ञान द्वारा ही सम्भव है।

पुनश्च, श्रुतियों में जिस अज्ञान का उल्लेख है वह अद्वैतवेदान्त की अनिर्वचनीय सदसद्विलक्षण अविद्या नहीं है।[६१] जिस वस्तु को न सत् कहा जा सके और न असत् उसकी सत्ता नहीं हो सकती। 'अनृत' का अर्थ अनिर्वचनीय नहीं है। इसका अर्थ वह कर्म है जो ज्ञान को संकुचित करता है (ज्ञानसंकोचहेतुभूतकर्म)। अनृत वह है जो ऋत से भिन्न हो। इसी प्रकार तमस् का अर्थ मूलप्रकृति है।

---

६०. वही, पृ० १२७

६१. 'अनिर्वचनीयत्वाभिमताज्ञानप्रसंगाभावात्' शतदूषणी, पृ० ६६१-६२

इसी प्रकार तमस् का अर्थ मूल प्रकृति है । 'तम एकीभवति', 'यस्यतमश्शरीरम्', 'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातम्' इत्यादि श्रुति वाक्यों से इस बात की पुष्टि होती है कि तमस् का प्रयोग मूलप्रकृति के अर्थ में हुआ है । इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि न सत् था, न असत् था, तो इसका अर्थ यह है कि ये दोनों तमस् की सम्पूर्णता में परस्पर घुले-मिले रहते हैं । श्रुतियों में जहां माया का उल्लेख है उनसे भी अद्वैत मत का समर्थन नहीं होता है । इन स्थानों पर माया का अर्थ केवल प्रकृति है । इसी प्रकार माया का अर्थ अनिर्वचनीय नहीं है बल्कि विचित्रता (विचित्र सृष्टि करत्व) है । अत: अज्ञान को किसी भी प्रमाण द्वारा भावरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता है ।[६२]

स्वरूपानुपपत्ति

शांकर वेदान्तियों के अनुसार स्वप्रकाश, चिन्मात्र, स्वरूप ब्रह्म में अविद्या ही जगत्-भ्रम का कारण है । किन्तु अद्वैतियों का यह मत ठीक नहीं है क्योंकि यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह अविद्या पारमार्थिक है अथवा अपारमार्थिक ? और यदि यह पारमार्थिक है तो यह ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न ? भिन्न मानने पर पारमार्थिक दोष का प्रसंग उपस्थित होता है और अभिन्न मानने पर जगत्-भ्रम का कारण ब्रह्म को ही मानना पड़ेगा और ब्रह्म के नित्य होने से यह भ्रम भी नित्य हो जायेगा । यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म सहकारी कारण के अस्तित्व से कभी भ्रान्त होता है और उसके निवृत्त होने पर भ्रम की निवृत्ति हो जाती है, तो ऐसा मानने पर भी सहकारी कारण के परमार्थ अथवा अपरमार्थ होने का विकल्प किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता । पुन:, प्रश्न उठता है कि सहकारीकारण के रूप में अद्वैतियों को कौन सा पदार्थ विवक्षित है ? यदि तत्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न तत्वज्ञान का प्रागभाव

---

६२. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १२८

ही उपकारीकारण है तो यह कथन असंगत होगा क्योंकि तब अज्ञान की भाव-रूपता का प्रतिपादन करने का अद्वैतियों का प्रयास व्यर्थ हो जायेगा । तत्वज्ञान के उस प्रागभाव का ब्रह्मरूप होना भी उचित नहीं है क्योंकि तत्वज्ञान से प्रागभाव की निवृत्ति के साथ-साथ ब्रह्म की भी निवृत्ति का प्रसंग आ जायेगा । उस प्रागभाव के ब्रह्म से भिन्न होने पर मिथ्या होने के कारण भ्रान्ति का हेतुत्व ब्रह्म में ही आ जायेगा और ब्रह्म के नित्य होने से भ्रान्ति के भी नित्यप्रकाशित होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा और भ्रान्ति के नित्य होने पर तत्वज्ञान की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी ।[63]

पुनश्च, प्रपंचदर्शन के सम्बन्ध में अविद्या की स्वयंसिद्धि की कल्पना निरर्थक है क्योंकि यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या अविद्या का अनुभव निर्दोष ब्रह्म को होता है ? यदि होता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म सदैव अविद्या का अनुभव करता है और यदि यह कहा जाय कि तत्वज्ञान के उदय के पूर्व तक ही ब्रह्म अविद्या का अनुभव करता है और तत्वज्ञान के उदय होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि तत्वज्ञान के उदय का प्रागभाव ही अविद्यादर्शन का कारण है (अविद्या दर्शन निबन्धनम्) और वही प्रपंच दर्शन का भी कारण है । अतः तृतीय पदार्थ, अविद्या के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । फिर, यदि यह कहा जाय कि तत्वज्ञान का प्रागभाव नानारूप प्रपंचदर्शन का कारण नहीं है तो इसके उत्तर में यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या भावात्मक सत्ता जैसे घटादि उसका कारण है ? यदि यह मान लिया जाय कि नेत्र में भावात्मक दोष, पीलिया आदि, अनेक भ्रम उत्पन्न करता है तो यह भी कहा जा सकता है कि परिच्छेद एवं भेद को न देखना भी बहुधा अनेक भ्रम उत्पन्न करता है । पुनः, यदि यह कहा जाय कि अभाव कार्य

---

६३. वही, पृ० १२९-३०

से सीमित है और इसलिए वह काल की भिन्न परिस्थितियों में नानारूप प्रपंचदर्शन को उत्पन्न करने में असमर्थ है और इसलिए अज्ञान को भावरूप मानना ही अधिक उपयुक्त है, तब भी उसी आग्रह से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि काल धर्म से असीमित अनादि अज्ञान, काल से सीमित होकर, तत्वज्ञान के उदय तक नानारूप प्रपंचदर्शन को कैसे उत्पन्न करता है ? उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि अविद्या का स्वभाव ही ऐसा है तो फिर प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का स्वभाव ज्ञानाभाव में मानने में हानि क्या है ? और ऐसा मानने से अविद्या की भी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी । इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती यह कह सकते हैं कि तत्वज्ञान का प्रागभाव निराकार है और निराकार अभाव प्रपंचदर्शन का कारण नहीं हो सकता है जबकि अविद्या भावरूप होने से विवर्तपरम्परा में परिणत हो सकती है (विवर्तपारम्पर्यात्) और इसलिए प्रपंचदर्शन का कारण अविद्या हो सकती है । यहां पुन: प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह विवर्तपरम्परा अविद्या का स्वरूप है अथवा अविद्या का कार्य है ? यदि यह अविद्या का स्वरूप है तो पूर्वोक्त दोष यहां भी लागू होगा और साथ ही साथ स्वरूप के नित्य विद्यमान रहने से सभी पदार्थों को सदैव भ्रम होता रहेगा और यदि यह अविद्या का कार्य है तो इसका अर्थ यह होगा कि निवर्त्तक ही निवर्त्य बन गया।[६४]

पुनश्च, यह भी पूछा जा सकता है कि अविद्या स्वयं प्रकाश्य है या नहीं ? यदि नहीं है तो वह तुच्छ सिद्ध होगी क्योंकि जो किसी प्रमाण से सिद्ध न हो वह तुच्छ है । यदि स्वयं प्रकाश्य है तो फिर यह पूछा जा सकता है कि क्या यह प्रकाश अविद्यास्वरूप है अथवा ब्रह्मस्वरूप है ? अथवा अविद्या का धर्म है अथवा ब्रह्म का धर्म है अथवा इन सबसे भिन्न कुछ है ?[६५]

---

६४. वही, पृ० १३०-३१

६५. शतदूषणी, पृ० १६७

यह प्रकाश (*manifestation*) अविद्यास्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्रकाश होने के कारण यह ब्रह्म जैसा सत्य सिद्ध हो जायेगा और दोनों में भेद न रहेगा। यह ब्रह्मस्वरूप भी नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्मस्वरूप के नित्य होने के कारण अविद्या भी नित्य हो जायेगी और तब मुक्ति ही असम्भव हो जायेगी। प्रकाश को अविद्या अथवा ब्रह्म का धर्म भी नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों ज्ञाता नहीं हैं। जो प्रकाश अथवा ज्ञान का अधिष्ठान है वही ज्ञाता है और इस रूप में ब्रह्म अथवा अविद्या को ज्ञाता नहीं माना जा सकता है। अतः प्रकाश दोनों में से किसी का भी धर्म नहीं है। ज्ञातृत्व का अध्यास भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उस अध्यास का हेतु अविद्या ही हो सकती है और उस स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा क्योंकि प्रकाश का अध्यास अविद्या से होगा और अविद्या प्रकाश से सिद्ध होगी। पुनः, यदि यह कहा जाय कि उसका कारण ब्रह्म है, तब अध्यास भी नित्य हो जायेगा और यदि हेतु के बिना ही अध्यास माना जाय तो प्रपंच का अध्यास भी बिना हेतु के हो जायेगा। अतः अविद्या की कल्पना अनावश्यक है। फिर, यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्रकाश इन सबसे भिन्न कुछ है क्योंकि ब्रह्म से भिन्न सब कुछ मिथ्या है।[६६]

पुनश्च, अविद्या के आश्रय का विचार भी समझ से बाहर है। किसी भी दृष्टिकोण से परीक्षा करने पर यह केवल विरोधों को जन्म देने वाला सिद्धान्त है।

उपरोक्त आलोचनाओं के विरुद्ध अद्वैतवेदान्ती यह कह सकते हैं कि जैसे इन्द्रजालिक के कार्यों में वास्तविक वस्तुओं पर लगाये जाने वाले दोष प्रयुक्त नहीं होते, ठीक उसी प्रकार अवस्तुरूप अविद्या में वस्तु पर आरोपित दोष नहीं लगाये जा सकते हैं। वास्तव में, दुर्घटत्व तो अविद्या दूषण नहीं अपितु भूषण ही है।[६७] अविद्या के सिद्ध न होने पर भी अद्वैत की कोई हानि

---

६६. वही, पृ० १२७

६७. 'दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्' वही, पृ० १६६

नहीं है । अद्वैतियों के इस मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उस स्थिति में उनका यह सिद्धान्त शून्यवाद जैसा होगा क्योंकि शून्यवादी यह मानते हैं कि उनके विरुद्ध की गयी आलोचनायें शून्यवाद के सिद्धान्त का खण्डन नहीं करती हैं ।[98]

अतः अविद्या का स्वरूप किसी भी प्रकार निष्पन्न नहीं हो सकता है ।

<u>ब्रह्माश्रयानुपपत्ति</u>

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है क्योंकि ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य की सत्ता नहीं है । यहां प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि स्वप्रकाशचैतन्य ब्रह्म अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है ? इस समस्या को दूर करने के लिए वाचस्पति मिश्र आदि अद्वैती जीव को ही अज्ञान का आश्रय मानते हैं । यहां पृथक्-पृथक् दोनों मतों का खण्डन किया गया है ।

उपरोक्त मत के खण्डन में यह कहा जा सकता है कि यदि अविद्या कुछ है तो उसका आश्रय अनिवार्य है और यह आश्रय निश्चितरूप से ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि वह ज्ञाता नहीं है, वह स्वप्रकाश चैतन्य है, वह नित्य-मुक्त स्वरूप है । वह अद्वैतरूप है । पुनः, यदि अज्ञान कुछ है जो ज्ञान से दूर होता है तो इसे ज्ञाता अथवा ज्ञान के आधार में विद्यमान होना चाहिए क्योंकि ज्ञान केवल उसी अज्ञान को दूर कर सकता है जो उसके भीतर विद्यमान हो । अद्वैत मत में, ब्रह्म ज्ञाता न होने के कारण अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है । पुनः, अहंकारोपहितचैतन्य को ज्ञाता मान लेने पर भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता क्योंकि सुषुप्ति में अहंकार नष्ट हो जाता है और उस अवस्था में जीव को भी

---

98. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १३३ एवं भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-२, पृ० ३०८-९

अविद्या का आश्रय स्वीकार करना पड़ेगा । अत: अद्वैतियों को या तो जीव को अविद्या का आश्रय मानने या फिर अज्ञान-सिद्धान्त को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।[६९]

पुनश्च, अद्वैतियों के अनुसार अविद्या की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से होती है । ब्रह्म ज्ञानस्वरूप स्वप्रकाशचैतन्य है । यह रात और दिन की भांति अविद्या के विपरीत है । अत: यह अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है ।यदि यह मान लिया जाय कि अविद्या ब्रह्म में विद्यमान रहती है तो फिर वह क्या है जो अविद्या को दूर करती है ? यदि वृत्तिज्ञान का विषयरूप ब्रह्म अविद्या को दूर करता है तो ब्रह्मज्ञान का विषय हो जायेगा और फिर स्वरूपज्ञान और वृत्तिज्ञान, इन दो प्रकारों के ज्ञानों में भेद करने वाला कौन होगा ?[७०]

पुनश्च, नित्यमुक्त होने के कारण भी ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है । अज्ञान से संयुक्त होना बन्धन है और असंयुक्त होना मोक्ष । दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं । यह कहना आत्मविरोधी है कि नित्यमुक्त ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है । अब, यदि यह कहा जाय कि इस कथन में कोई विरोध नहीं है क्योंकि ब्रह्म में अविद्या की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति भिन्न कालों में होती है, तो उस स्थिति में ब्रह्म का नित्यमुक्त होना व्याघात-पूर्ण होगा और यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म का नित्यमुक्त होना व्याघातपूर्ण नहीं है क्योंकि अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध भ्रम मात्र है तो उस स्थिति में बन्धन

---

६९. '.....The Advaitin is thus forced to admit either the individual self as the locus of ajñāna or to giveup the theory of ignorance.'

अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १३४-३५

७०. वही, पृ० १३५

और मोक्ष का आनुभविक तारतम्य बुद्धिग्राह्य नहीं होगा।[७१]

अन्त में, यदि ब्रह्म सर्वज्ञ है तो वह अज्ञानी नहीं है और यदि ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं है तो यह कथन श्रुति एवं स्मृतिविरुद्ध है। अतः नित्यमुक्तसर्वज्ञ ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं है।[७२]

माया और अविद्या

कुछ शंकरोत्तरवेदान्ती माया और अविद्या में भेद करते हैं।[७३] उनके अनुसार जो दूसरों में मोह उत्पन्न करती है, वह माया है और जो अपने में मोह उत्पन्न करती है, वह अविद्या है।[७४] किन्तु अद्वैतियों का यह मत ठीक नहीं है। दूसरों को बिना देखे परव्यामोहन सम्भव नहीं है। परन्तु यदि दूसरों को देखकर ही व्यामोहन (delusion) सम्भव है तो प्रश्न उठता है कि ब्रह्म जो दूसरों का दर्शन करता है, वह दर्शन स्वाभाविक दर्शन है अथवा अज्ञान के कारण है अथवा माया के कारण है? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि स्वाभाविक दर्शन का अर्थ है, निर्दोष दर्शन और जिसका निर्दोष दर्शन होगा वह सत्य सिद्ध होगा और तब ब्रह्म से भिन्न अनेक वस्तुओं की सिद्धि हो जायेगी और साथ ही साथ ब्रह्म में ज्ञातृत्व भी आ जायेगा। द्वितीय विकल्प भी संभव नहीं है क्योंकि तब ब्रह्म में अज्ञान पक्ष पुष्ट हो जायेगा। तृतीय पक्ष भी ठीक

---

७१. '....If it be said that eternal freedom is not contradicted since the relation of nescience to Brahman is only illusory, then the temporal sequence of bondage and release would be hardly intelligible.' वही, पृ० १३५

७२. 'अतो नित्यमुक्तसर्वज्ञत्वात् ब्रह्मणो न कथाचिदपि तस्याज्ञानाश्रयत्वसंभवः।' शतदूषणी, पृ० १००

७३. 'ये तु ब्रह्मणो दोषं परिजिहीर्षन्तः अज्ञानं माया शब्देनोपचरन्ति।' वही, पृ० २००

७४. 'परव्यामोहनहेतुर्माया, स्वव्यामोहनहेतुरविद्येति' । वही, पृ० २००

नहीं है क्योंकि माया परव्यामोहन में उपकरण मात्र है । वह परदर्शन का कारण नहीं हो सकती है।[७५] इस दोष के परिहार में अद्वैती कह सकते हैं कि ब्रह्मगत माया की यह विशेषता है कि वह परदर्शन और उनका व्यामोहन दोनों का कारण हो सकती है । परन्तु यदि अद्वैतियों के इस कथन का तात्पर्य यह है कि मिथ्याभूत अन्य वस्तु का दर्शन माया से होता है, तब माया और अविद्या में भेद ही क्या है ? अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है ।

पुनश्च, अद्वैती कह सकते हैं कि जैसे शुक्ति-रजत आदि दर्शन का कारण अविद्या है, उसी प्रकार विपरीतदर्शन का कारण अविद्या है । किन्तु ब्रह्म के विपरीतदर्शन का कारण माया नहीं है क्योंकि ब्रह्म से भिन्न मिथ्याभूत वस्तुओं को मिथ्यारूप में ही माया उपस्थित करती है, जैसे शुक्ति-रजत में जो मिथ्यात्वबुद्धि है उसका कारण अविद्या नहीं है । वह तो प्रमा ज्ञान के कारण है । इसलिए माया और अविद्या में भेद मानना आवश्यक है । किन्तु अद्वैतियों का यह मत ठीक नहीं है क्योंकि प्रश्न उठ सकता है कि ब्रह्म अपने से भिन्न मिथ्याभूत वस्तुओं को स्वभ्रम सिद्ध होने के कारण मिथ्यारूप में जानता है या परभ्रमसिद्ध होने के कारण मिथ्यारूप में जानता है या भ्रमसिद्धि की बात को छोड़कर केवल वस्तुओं का मिथ्यात्वमात्र जानता है । प्रथम विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म में भ्रम मानने पर ब्रह्म अविद्या से संयुक्त हो जायेगा । द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म अपने से भिन्न को नहीं जानता है तो वह प्रपंच को भी, जो दूसरों के भ्रम का परिणाम है, नहीं जान सकता है और यदि यह मान लिया जाय कि ब्रह्म दूसरों को जानता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म स्वयं अविद्या से प्रभावित है । इसी प्रकार तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि प्रपंच भ्रम का परिणाम नहीं है तो उसके मिथ्यात्व का भी अनुभव

---

७५. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १३७

नहीं किया जा सकता क्योंकि मिथ्यात्व मात्र अभाव नहीं है वरन् एक वस्तु का, जहां वह नहीं है, उस स्थान पर दीखना है । यदि ब्रह्म दूसरों को केवल भ्रम में देखता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी माया से दूसरों को भ्रमित कर रहा है । स्वयं अद्वैती भी प्रतिबिम्ब, वन्ध्यापुत्र, चित्रलिखित-पुरुष आदि के व्यामोहन के लिए माया का प्रयोग नहीं करते हैं । यदि कोई प्रयोग करता है तो वह उन्मत्त ही कहा जायेगा । इसी प्रकार ब्रह्म भी यदि मिथ्यारूप में निश्चित परव्यामोहन के लिए माया का उपयोग करता है तो वह भी उन्मत्त सिद्ध होगा और ब्रह्म में अज्ञान आ जायेगा[७६] ।

उपर्युक्त दोष का परिहार करते हुए शांकरवेदान्ती कहते हैं कि परव्यामोहन के लिए परदर्शन आवश्यक है । मिथ्याभूत परदर्शन दोष के बिना सम्भव नहीं है तो भी यहां ब्रह्म के परदर्शनहेतुभूत मायारूप दोष का अविद्यात्व नहीं है क्योंकि अपुरुषार्थ या अपरमार्थ दर्शन का हेतु अविद्या ही है[७७] । माया ब्रह्म का जो प्रकाशन करती है वह अपुरुषार्थ रूप में नहीं करती है, प्रत्युत पुरुषार्थ रूप में करती है । खेल का उपकरण गेंद- जैसा पुरुषार्थ रूप में ही वह प्रकाशन करती है । अतः माया अविद्या नहीं है । किन्तु अद्वैतियों का यह मत ठीक नहीं है क्योंकि यदि माया पुरुषार्थ का हेतु है तो वह दोष नहीं हो सकती क्योंकि यदि वह दोष होगी तो उसमें अपुरुषार्थ-सम्बन्ध अवश्य होगा[७८] ।

---

७६. वही, पृ० १३७-३८

७७. 'अपुरुषार्थापरमार्थदर्शनहेतुरविद्येति' । शतदूषणी, पृ० २०१

७८. '.....If māyā is the cause of a puruṣārtha it cannot be considered as a defect. If it be a defect, it cannot be a puruṣārtha. Nothing that produces a desirable and is treated as a defect.'

अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १३८-३९

अद्वैतवेदान्ती पुनः कह सकते हैं कि माया ब्रह्म का दोष नहीं अपितु ब्रह्म का गुण ही है क्योंकि अन्त में वह माया पुरुषार्थ में पर्यवसन्न होती है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि यह माया रूप गुण उच्छेदनीय है या नहीं ? यदि उच्छेदनीय है तो ब्रह्म की इच्छा से उच्छिन्न होती है या किसी अन्य की इच्छा से ? यदि ब्रह्म की इच्छा से उच्छिन्न होती है तो वह पुरुषार्थ-पर्यवसायी कैसे होगा ? क्योंकि अपुरुषार्थ को ही उच्छिन्न किया जा सकता है। अतः ब्रह्म इसे उच्छिन्न करने की इच्छा नहीं करेगा। किसी अन्य की इच्छा से भी इसका उच्छेद सम्भव नहीं है क्योंकि अन्य सभी माया से मोहित हैं और सीमित ज्ञान एवं शक्ति से सम्पन्न हैं। अतः सीमित ज्ञान एवं शक्ति से सम्पन्न तथा माया से भ्रमित पुरुष सर्वशक्तिमान् एवं असीमित ब्रह्म के अनन्त पुरुषार्थ की साधिका माया की निवृत्ति में असमर्थ है। अद्वैती यह भी नहीं कह सकते हैं कि माया कभी स्वयं ही निवृत्त हो जाती है क्योंकि बिना कारण नाश क्षणिकवादी बौद्ध ही मानते हैं[79]। और यदि बिना कारण माया की निवृत्ति सम्भव है तो इसे पहले ही निवृत्त हो जाना चाहिए था। अब तक वह क्यों रही ? अतः यह स्वीकार कर लेना ही एकमात्र उपाय है कि माया उच्छेदनीय नहीं है अर्थात् माया नित्य है और ब्रह्मस्वरूप से सम्बद्ध है। परन्तु यह मत अद्वैतवेदान्तियों को मान्य नहीं है। अतः माया भ्रम है और ब्रह्म शुद्ध एवं निर्विशेष है, इस सिद्धान्त के आधार पर माया और अविद्या को पृथक् करना सम्भव नहीं है।[80]

---

७९. वही, पृ० १३८-३९

८०. '.....It is impossible to draw a distinction between māyā and avidyā on the view which maintains that māyā is illusory and Brahman is pure and indeterminate.'
वही, पृ० १३८-३९

जीवाश्रयानुपपत्ति

ब्रह्म में अविद्यादोष का निवारण करने के लिए वाचस्पति मिश्र आदि अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं है। अन्त:करण में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव है। अज्ञान और संसार इस जीव में पर आश्रित हैं। यद्यपि प्रतिबिम्ब भी मूल बिम्ब जैसा ही है तो भी जब मुख दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है तो मुख में अविद्यमान मलिनता आदि दोष प्रतिबिम्बित करने वाले दर्पण के दोष के कारण प्रतिबिम्ब में दिखायी पड़ते हैं। वास्तव में मुख में दोष नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म में प्रतिबिम्बभूत जीव में स्थित दोष ब्रह्म से सम्बद्ध नहीं होते हैं। पुन:, यदि प्रश्न किया जाय कि ब्रह्म से अभिन्न जीवों में अशुद्धि कैसे आ सकती है तो अद्वैतियों का उत्तर है कि इस प्रकार के प्रश्न निरर्थक हैं। इसी कारण से जीव-ईश्वर, बद्ध-मुक्त, शिष्य-आचार्य आदि व्यवस्था भी सिद्ध होती है। पुन:, जिस प्रकार मुख के प्रतिबिम्ब में दिखायी पड़ने वाले मलिनत्व आदि दोष मिथ्या हैं, उसी प्रकार मिथ्याभूत जीवगतदोष भी मिथ्या है और इसलिए ज्ञान से निवृत्त हो सकता है। अत: जीव और ब्रह्म के तादात्म्य होने पर भी ब्रह्म की शुद्धता प्रभावित नहीं होती है।[८१]

अद्वैतियों के उपरोक्त मत के खण्डन में कहा जा सकता है कि अन्त:करण में चेतना का प्रतिबिम्ब या अविद्या असम्भव है और इस आधार पर अनेक जीववाद की कल्पना भी ठीक नहीं है।[८२] दूसरे शब्दों में, आश्रयत्वान

---

८१. वही, पृ० १३९

८२. '..... reflection of Consciousness in the inner organs or the nescience is an impossibility and the postulation of the plurality of jīvas on that ground is untenable.'

वही, पृ० १४०

विषयों का प्रतिबिम्ब होता है । किन्तु यहां शुद्ध ब्रह्म और अविद्या दोनों ही आकारवान् नहीं हैं । ऐसी स्थिति में एक का दूसरे में प्रतिबिम्ब कैसे संभव है ? यदि यह मान लिया जाय कि प्रतिबिम्ब सम्भव है, तो फिर अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता है ।

पुनश्च, अद्वैतियों का यह कहना ठीक नहीं है कि अविद्या ब्रह्म में नहीं अपितु जीव में रहती है । यदि स्वाभाविकरूप में जीव अविद्या का आश्रय है तो इसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है । यदि यह कहा जाता है कि अविद्या भौतिक द्रव्य से सम्बन्धित है, तो उसे दूर नहीं किया जा सकता है क्योंकि भौतिक द्रव्यों से आबद्ध जीव में अविद्या को दूर करने की इच्छा कभी नहीं हो सकती और न ही उसमें उसे दूर करने की साम्यर्थ है ।

पुनश्च, यह प्रश्न किया जा सकता है कि सर्वजीवभेद-कल्पिका विद्या एक है या प्रति जीवों में भिन्न है ? प्रथम विकल्प के अनुसार अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर एक जीव की मुक्ति से सभी जीव मुक्त हो जायेंगे । द्वितीय विकल्प में यह निश्चित करना कठिन है कि अविद्या पहले आती है अथवा जीवों का परस्पर भेद और इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जायेगा । यदि जीव अनेक हैं, तो अविद्या को भी अनेक मानना पड़ेगा और यदि अविद्यायें अनेक हैं तो अनेक जीववाद मानना अनिवार्य है । अद्वैतवेदान्ती जीवभेद को वास्तविक नहीं मानते हैं । यदि यह मान लिया जाता है कि जीवों का भेद वास्तविक नहीं है, तो जीवभेद की सिद्धि के लिए अनेक अविद्या मानने की आवश्यकता नहीं है । दूसरी ओर, 'अज्ञान ब्रह्म से सम्बन्धित है', इस मतानुसार जीवभेद मिथ्या होने से, भिन्न जीवों के अनुसार भिन्न अविद्या मानने की आवश्यकता नहीं रहती । कुछ भी हो, अविद्या, चाहे सत्य हो अथवा भ्रमरूप हो, वह जीवों की भिन्नता नहीं समझा सकती है ।[८३]

८३, वही, पृ० १४६ एवं भारतीय दर्शन का इतिहास,भाग-१, पृ० ४०४-५

पुनश्च, अनेक जीवों को उत्पन्न करने वाली अविद्या ब्रह्म में रहती है या जीवों में ? यदि प्रथम विकल्प स्वीकार कर लिया जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है, जीव नहीं। यदि द्वितीय विकल्प स्वीकार कर लिया जाय तो फिर वही पुरानी कठिनाई उपस्थित होती है कि अविद्या का भेद प्राथमिक है अथवा जीवों का भेद। बीज और अंकुर की भांति अविद्या और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को अनादि मानकर भी इस समस्या को हल नहीं किया जा सकता क्योंकि अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ बीज अपने आप को उत्पन्न नहीं कर सकता है। अत: बीज और अंकुर का साम्यानुमान भी इस समस्या को हल नहीं कर सकता है।[८४]

यदि यह कहा जाय कि पूर्वगामी जीवों की अविद्या उत्तर-कालीन जीवों को उत्पन्न करती है तो जीव नाशवान् हो जायेंगे और यह अवस्था उन श्रुतिवाक्यों के विरुद्ध होगी जो यह प्रकाशित करते हैं कि जीव नित्य अनश्वर हैं। अत: अद्वैतवेदान्तियों के मत का समर्थन कि अविद्या ब्रह्म में नहीं अपितु जीवों में रहती है, किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है।

<u>तिरोधानानुपपत्ति</u>

शांकरवेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म इस अर्थ में अविद्या का विषय है कि अविद्या ब्रह्म का तिरोधान करती है। इस मत के खण्डन में कहा जा सकता है कि अविद्या ब्रह्म का तिरोधान नहीं कर सकती है क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप है। प्रश्न उठता है कि तिरोधान का क्या अर्थ है ? तिरोधान के निम्नलिखित आठ विकल्प हो सकते हैं[८५] —

(i) क्या यह इन्द्रिय-विषय के सम्बन्ध का अभाव है ? अथवा

---

८४. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १४१-४२

८५. वही, पृ० १४२-४३

(ii) इन्द्रियज ज्ञान के विषय का अभाव है ? अथवा

(iii) ज्ञान मात्र के विषय का अभाव है ? अथवा

(iv) ज्ञान का स्वयं विषय न होना है ? अथवा

(v) ज्ञान का स्वप्रकाश न होना है ? अथवा

(vi) जो स्पष्टत: भिन्न है उसका भिन्न न होना है ? अथवा

(vii) ब्रह्म की अभिव्यक्ति के सहायक कारणों में से किसी एक का निराकरण? अथवा

(viii) अनिर्वचनीयत्व ?

प्रथम तीन विकल्प अस्पष्ट हैं क्योंकि ब्रह्म किसी न किसी अर्थ में इन्द्रियज ज्ञान का विषय है अथवा सामान्य ज्ञान ही है और यह अद्वैतियों को मान्य नहीं है । चतुर्थ विकल्प की भी यही स्थिति है । पंचम विकल्प स्वप्रकाश भंग का है । स्वप्रकाश से न तो स्वगोचर विवक्षित है और न प्रकाशान्तर । दोनों पक्षों में श्रुति विरोध है । छठें विकल्प के अनुसार तिरोधान विशदस्वरूप का अविशद होना है और यह असम्भव है । प्रत्यगैक-स्वरूप आत्मा का परोक्षज्ञान अयुक्त है । सातवां विकल्प भी सहायककारणों के निरपेक्ष होने के कारण असिद्ध है । आठवां विकल्प कष्टसाध्य है । अनुरूपिणीस्वरूप की कल्पना कष्टसाध्य ही है ।[८६]

अत: निर्विशेष, नित्य एवं स्वप्रकाश ब्रह्म का स्वरूप तिरोहित नहीं हो सकता है ।

<u>निवर्तकानुपपत्ति</u>

शांकरवेदान्तियों का कहना है कि ब्रह्मविषयक अज्ञान ही अविद्या है और उस अविद्या की निवृत्ति ब्रह्मसाक्षात्कार से होती है । इस प्रसंग में

---

८६. वही, पृ० १४३

यह प्रश्न हो सकता है कि अविद्या का निवर्तक जीवब्रह्मैक्य का ज्ञान किस प्रकार का है ? (i) क्या यह ब्रह्मस्वरूप ज्ञान से भिन्न है ? अथवा (ii) अभिन्न है ? अथवा (iii) भिन्नाभिन्न है ? अथवा (i) न तो भिन्न है, न अभिन्न ? अथवा ( ) ऐसा है कि यह कहा नहीं जा सकता कि यह कैसा है ?[८७]

(i) प्रथम विकल्प असम्भव है क्योंकि ब्रह्म निर्विषयक ज्ञानस्वरूप है और यह ज्ञान निर्विषय नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि यह ज्ञान सविषय ही है तो प्रश्न उठता है कि उस ज्ञान का विषय क्या है ? (क) क्या शुद्ध ब्रह्म इसका विषय है ? अथवा (ख) अविद्या शबल ब्रह्म इसका विषय है ? अथवा (ग) अन्य कुछ इसका विषय है ?

(क) शुद्ध ब्रह्म उसका विषय नहीं हो सकता क्योंकि शुद्धब्रह्मस्वरूप के समान ही ब्रह्मस्वरूप विषयक ज्ञान होगा । जब शुद्धब्रह्मस्वरूप ज्ञान अविद्या की निवृत्ति नहीं कर सका और सम्पूर्ण सृष्टि होती रही तब फिर उसी के समान शुद्ध-ब्रह्मस्वरूप विषयक ज्ञान अविद्या की निवृत्ति कैसे करेगा अर्थात् नहीं करेगा ।[८८]

(ख) अविद्या-शबल ब्रह्मविषयकज्ञान भी अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता क्योंकि यह अविद्या के स्पर्श से ही मिश्रित है । यदि अविद्यामिश्रित ज्ञान अविद्या का निवर्तक माना जाय तो अविद्या मिश्रित प्रत्यक्षादि ज्ञान भी भ्रम आदि के निवर्तक हो जाते और कुछ भी दिखायी न पड़ता ।[८९]

८७, वही, पृ० १४४

८८, 'आत्मस्वरूपस्येव ज्ञानस्य तस्यापि भ्रमनिवर्तकत्वायोगात् ; उभयोरपि यथावस्थितब्रह्मस्वरूपप्रकाशकत्वाविशेषात्' । शतदूषणी, पृ० २०३ ।

८९, वही, पृ० २०४

(ग) अन्य कुछ विषय या तो परमार्थस्वरूप होगा या अपरमार्थस्वरूप । यदि परमार्थस्वरूप है तो उसका उत्तर प्रथम विकल्प में दिया जा चुका है और यदि अपरमार्थस्वरूप है तो उसका उत्तर द्वितीय विकल्प में दिया जा चुका है । इसलिए अविद्यानिवर्तक ज्ञान ब्रह्मस्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता है ।

(ii) अविद्यानिवर्तक ज्ञान यदि ब्रह्मस्वरूपज्ञान से अभिन्न है अर्थात् तद्रूप ही है तो यह तो अनादि काल में भी विद्यमान था । अत: अविद्या प्रपंच ही सम्भव न होता[६०]।

(iii) तृतीय विकल्प भी सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि भिन्न होने पर प्रथम कल्प के दोष उद्भावित होंगे और अभिन्न होने पर द्वितीयकल्प के दोष उद्भावित होंगे ।

(iv) चतुर्थ विकल्प अनिर्वचनीयता की अवस्था उपस्थित करता है । अनिर्वचनीय अवस्था अपने आप में एक सुदृढ़ असंभावना है । इसलिए अनिर्वचनीयता प्रकारक सारे दोषों से यह दूषित है[६१]।

(V) पांचवें पक्ष के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि क्या वह साधनों के दूषित होने के कारण अकथनीय है अथवा अन्य कोई बात है । यदि प्रथम बात है तो यह पक्ष स्वत: दूषित सिद्ध होता है और यदि दूसरी बात है तो वह है ही नहीं क्योंकि उक्त कोटियों के अतिरिक्त कोई कोटि नहीं है[६२]।

---

६०. ब्रह्मस्वरूपस्याविद्यानिवर्तकत्वेतस्यानादित्वेन प्रपंचाध्यासाभावप्रसंगेन (ध्यासासम्भावप्रसंगात्) प्रपंचप्रतिभासस्याप्यनुदयप्रसंगात्`। वही,पृ० २०६

६१. `चतुर्थस्तूभयप्रतिषेधपक्षोऽनिर्वचनीयोक्त (रूपानिर्वचनीय)दूषणान्येनोभय-सिद्धयनतिरेकात् तद्दूषणेनैव दूषित:`। वही, पृ० २०६

६२. `किं साधनदूषणप्रयासेन ?
उत्तरं कथंचिदपि उक्तकोटिव्यतिरिक्ताभिधाऽसिद्धे:`। वही, पृ० २०६

अन्त में एक तथ्य और उल्लेखनीय है कि अगर कोई निवर्तक ज्ञान सम्भव भी है तो वह स्वयं रहेगा कि निवृत्त हो जायेगा । यदि वह आगन्तुक है तो उसे स्वयं निवृत्त होना ही पड़ेगा और तब फिर अविद्या उत्पन्न प्रकार हो जायेगी और अगर नहीं निवृत्त हुआ तो वह स्वयं दूसरे प्रकार का अज्ञान होगा और अद्वैत का भंग करेगा तथा द्वैत बना रहेगा । अतः अविद्या का कोई निवर्तक नहीं है ।

श्रीनिवासाचारी वेदान्तदेशिक की उपरोक्त युक्तियों को पर्याप्त सत्य पाते हैं । अतएव इनके आधार पर वे अविद्या-निवर्तक का खण्डन करते हैं ।[63]

निवृत्त्यनुपपत्ति

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार अविद्यानिवृत्ति अद्वैतवाक्यों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से होती है । परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अविद्यानिवृत्ति का विचार ही अयुक्त है क्योंकि यह पूछा जा सकता है कि अविद्यानिवृत्ति स्वयं भ्रमरूप है अथवा नहीं और यदि यह भ्रमरूप है तो अविद्या की पूर्ण निवृत्ति कैसे सम्भव है ? जो स्वयं भ्रमरूप है, निवृत्ति का अस्तित्व है तो उसके कारणरूप अविद्या को अस्तित्ववान् होना चाहिए क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अविद्यानिवृत्ति का आधार आत्मा (आत्मोपादान) है क्योंकि तब आत्मा को परिणामी मानना पड़ेगा और यदि यह पूर्व अविद्या की भांति स्वयं आधार-रहित है, तो अविद्या को उससे सम्बद्ध करना व्यर्थ है और इसका भी कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता है कि अविद्यानिवृत्ति के बाद भी वह फिर क्यों विद्यमान रहती है ।[64]

---

६३. अद्वैत एण्ड विशिष्टाद्वैत, पृ० १४७-१४८

६४. वही, पृ० १४८-४९

पुनश्च, यदि अद्वैती यह कहते हैं कि अविद्यानिवृत्ति का कार्य यह दिखलाना है कि ब्रह्म से भिन्न सब कुछ मिथ्या है और जैसे ही यह कार्य पूर्ण हो जाता है, अविद्यानिवृत्ति भी पूर्ण हो जाती है, तो फिर दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि यदि अविद्यानिवृत्ति स्वतः हो जाती है और यदि वह भ्रमरूप है तो इसका अर्थ होगा, अविद्यानिवृत्ति की निवृत्ति अर्थात् या तो अविद्या-निवृत्ति पुनः स्थापित हो जाती है या वह सत् है।[६५] यहां अद्वैती यह कह जाते हैं कि जब घड़ा उत्पन्न होता है तो इसका यह अर्थ है कि उसके प्रागभाव का नाश हो गया किन्तु जब वह घड़ा फिर नष्ट हो जाता है तो इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि प्रागभाव फिर उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार अविद्यानिवृत्ति न तो पुनः स्थापित हो जाती है और न ही वह सत् है।

अद्वैतियों के उपरोक्त तर्क के खण्डन में यह कहा जा सकता है कि घड़े का प्रागभाव, जो अभाव और भ्रमरूप है, युक्त है क्योंकि नाश(क्षय) जो घड़े और उसके प्रागभाव को दूर करता है, का अस्तित्व है जबकि अविद्या-निवृत्ति में निषेध के लिए कोई पदार्थ नहीं है। यदि यह कहा जाय कि अविद्या के निषेध के लिए ब्रह्म विद्यमान है तो कठिनाई यह होगी कि ब्रह्म जो अविद्या और उसकी निवृत्ति का निषेध है, नित्य होने से, प्रपंच की किसी भी काल में प्रतीति नहीं होनी चाहिए और इस प्रकार भेद की भी प्रतीति नहीं होनी चाहिए और उस स्थिति में मोक्षशास्त्र के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं

---

६५. '........If the cessation of avidyā itself ceases to exist and if that be illusory, then that would mean that there is a cessation of cessation which means either that avidyā is again restored or that it is real.'
वही, पृ० १४६

होनी चाहिए।[६६]

पुनश्च, अद्वैतियों का यह कहना भी असंगत है कि अविद्या-निवृत्ति भ्रमरूप नहीं है। यदि यह भ्रमरूप नहीं है तो प्रश्न किया जा सकता है कि यह ब्रह्मस्वरूप में अन्तर्निहित है या नहीं ? यदि इसका समावेश ब्रह्मस्वरूप में है तो ब्रह्म के अनादि होने से अविद्या का सदैव उसमें समावेश होना चाहिए। पुनः, यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म का अस्तित्व स्वयं अज्ञान का अन्त है, तो फिर अविद्यानिवृत्ति को ब्रह्मस्वरूप की पहचान के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध से जोड़ना सम्भव न होगा।[६७]

अद्वैतवेदान्ती एक और तर्क उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म से भिन्न होने के कारण अविद्यानिवृत्ति सत् नहीं है। यह सत् और असत् स्वरूप भी नहीं है क्योंकि यह विरोधाभास है। यह सत् और असत् से भिन्न भी नहीं है क्योंकि उस स्थिति में उसकी वास्तविक निवृत्ति न होगी। इसलिए अन्ततोगत्वा यह या तो असत् होगी या उपरोक्त चारों विकल्पों से भिन्न होगी (पंचम प्रकार)। अविद्या, सत् और असत् से भिन्न है, उसकी निवृत्ति भी वास्तविक है क्योंकि यह सिद्ध किया जा सकता है। 'यदानुरूपोपाधिः' इस न्याय से सिद्ध है कि अविद्यानिवृत्ति सत् एवं असत् पदार्थों से भिन्न एक विलक्षण पदार्थ है।[६८]

---

६६. '.......If it be said that there is Brahman which negates the cessation of avidyā, then the difficulty would be that Brahman, the negation of both avidyā and its cessation being eternal, there should be no appearance of the universe at any time. As such there being an end to the appearance of difference etc., the study of mokṣa- 'Śāstra need not be undertaken.' वही, पृ० १४६-५०

६७. वही, पृ० १५०

६८. वही, पृ० १५०

अविद्यानिवृत्ति के सम्बन्ध में अद्वैतियों का उपरोक्त तर्क ठीक नहीं है। उपर्युक्त तीन विकल्प स्वयं अद्वैतियों द्वारा खण्डित हो जाते हैं। जहां तक चतुर्थ विकल्प का प्रश्न है यदि असत् या अभाव का अर्थ कोई अन्य भाव है तो अविद्या को मानना द्वैतवाद को उपस्थित करेगा। दूसरी ओर, यदि असत् का अर्थ तुच्छ माना जाता है, तो यह शशशृंग की भांति असत् होगा। इस प्रकार अविद्यानिवृत्ति से मुक्ति नहीं होगी। पुन:, पंचम विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि अविद्यानिवृत्ति सत्, असत् और सदसद् से भिन्न है तो यह वास्तव में माध्यमिकों का शून्यवाद जैसा मत हो जायेगा क्योंकि वह भी प्रपंच को पंचम प्रकार का मानता है। पुन:, 'यक्षानुरूपोबलि:' न्याय का प्रयोग भी अनुचित है क्योंकि यदि विरोध के बिना अनुरूपता हो, तो स्वयं अनिर्वचनीय अविद्या का नाश अनिर्वचनीय हो जायेगा। फिर यदि अनुरूपता विरोध द्वारा हो तो अनिर्वचनीयता का विरोधी निर्वचनीयता होगी तो भी सदसद्विलक्षणत्व टिक न सकेगा।[६६]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदान्तदेशिक ने अद्वैत मत के खण्डन के लिए शतदूषणी नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा था और उसी का आंग्ल अनुवाद आधुनिक युग में डा० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त एवं डा० एस० एम० श्रीनिवासचारी ने किया। स्वयं वेदान्तदेशिक ने वास्तव में रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य के आधार

---

६६. '.......the maxim, Yakṣānurūpobaliḥ does not apply here. If there should be conformity without opposition, then the cessation of nescience which is regarded as indescribable would follow to be indescribable. If there is conformity by opposition, then the opposite of indescribability being describability, its being different from real-non-real would not stand.' वही, पृ० ५५१

पर अपने ग्रन्थ की रचना की थी । वे रामानुजाचार्य की भांति ही अद्वैतवादियों को 'प्रच्छन्न बौद्ध' तथा 'वेदमार्गविप्लावक' मानते हैं[100] और इसलिए उनकी दूषण पद्धति का प्रमुख स्वर अभेद श्रुतियों की भेदपरक व्याख्या करना है । जहां तक इस व्याख्या का प्रश्न है, वहां तक सायण आदि वेदभाष्यकारों की भी युक्तियों से वेदान्तदेशिक की व्याख्या उनके परवर्ती अद्वैत आचार्यों ने कर दिया है । फिर जहां तक उपनिषदों के अभेदपरक कथनों का प्रश्न है, थावे थीबो, जो स्वयं रामानुजाचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य से सहमत हैं, कहते हैं कि उपनिषदों की व्याख्या में शंकराचार्य रामानुजाचार्य से अधिक प्रामाणिक हैं । अतएव निष्पक्ष आलोचना के आधार पर वेदान्तदेशिक का प्रयास बहुत समर्थनीय नहीं है । अद्वैतवादियों ने शतदूषणी का खण्डन इसलिए नहीं किया था कि शतदूषणी का कोई नया स्वर नहीं था । यह संग्रह ग्रन्थ है और जिन ग्रन्थकारों की युक्तियों को वेदान्त देशिक ने अपने शब्दों में रखा है, उनका खण्डन करने में अद्वैतवादी अधिक संलग्न रहे । इस कारण उन्होंने शतदूषणी के प्रति उपेक्षा बरती । इस उपेक्षा का वेदान्तदेशिक के अनुयायियों ने यह अर्थ लगाया कि शतदूषणी अकाट्य है । अत: उनका यह प्रबंध मद देखकर महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने शतदूषणी का खण्डन किया ।

जिस प्रकार शतदूषणी का अनुवाद करके विशिष्टाद्वैतवादी भेद की वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं, उसी प्रकार नृसिंहाश्रम के भेदधिक्कार का आंग्ल अनुवाद करके एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री और टी० एम० पी० महादेवन अभेद का प्रतिपादन करते हैं[101]। इन ग्रन्थों की आधुनिक व्याख्या का

---

१००. शतदूषणी, पृ० २-३

१०१. भेदधिक्कार (A critique of Difference), नृसिंहाश्रमस्वामी, अनुवादक, एस०एस० सूर्यनारायण शास्त्री और टी०एम०पी० महादेवन, यूनिवर्सिटी आफ मद्रास, १९५५ ।

उद्देश्य केवल यह है कि प्राचीन आचार्यों की युक्तियों से आधुनिक मनीषी अवगत हो जायं। किन्तु इस प्रसंग में पक्ष और विपक्ष के आधुनिक आचार्यों ने प्राचीन युक्तियों का आधुनिकीकरण नहीं किया है। इस कारण उनकी युक्तियां प्रभावकारी नहीं सिद्ध हुई हैं। प्राचीन युक्तियों को प्राचीन सन्दर्भों से हटाकर शुद्ध तर्कशास्त्र के आधार पर प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। श्रुतिमूलकता की अपेक्षा तर्कमूलकता और स्वानुभूतिमूलकता को अधिक महत्व देना है, तब कहीं जाकर प्राचीन आचार्यों के विवादों का स्वारस्य आधुनिक मानस के अनुकूल होगा। हमने यहां जो कुछ थोड़ा प्रयास किया है उसका प्रयोजन यही दृष्टिकोण है। यथासम्भव हमने सरल और आधुनिक तर्क पद्धति के अनुकूल डा० श्रीनिवासचारी और डा० दासगुप्त की अनुवादित युक्तियों को रखने का प्रयास किया है।

- o -

षष्ठ अध्याय

-०-

अमृतानुभव या अभिनव अद्वैतसिद्धि

षष्ठ अध्याय

-0-

शतभूषणी या अभिनव अद्वैतसिद्धि

अनन्तकृष्ण शास्त्री की नवीनता

अद्वैतवेदान्त में वाद प्रस्थान का अपना निजी महत्व है जिसके अन्तर्गत खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी एवं अद्वैतसिद्धि आते हैं । पिछली कई शताब्दियों से वादप्रस्थान का कोई विकास नहीं हुआ । इस ओर महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने एक नवीन कार्य किया है और उनकी शतभूषणी का प्राय: वही महत्व हो गया है जो महत्व अद्वैतसिद्धि का है । जैसे अद्वैतसिद्धि द्वैतवादी ग्रन्थ न्यायामृत के खण्डन में लिखी गयी थी और फिर उसका खण्डन भी द्वैतवादी मध्ववेदान्त में हुआ, ठीक वैसे ही शतभूषणी विशिष्टाद्वैतवादी शतदूषणी के खण्डन में लिखी गयी और उसका भी खण्डन विशिष्टाद्वैतवादी परमार्थभूषणम् नामक ग्रन्थ में हुआ । इस प्रकार अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत के खण्डन-प्रतिखण्डन का एक नया युग शतभूषणीकार ने प्रारम्भ किया जो कदाचित् संस्कृत के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन करने वालों का आधुनिक युग में सबसे बड़ा योगदान है । जो लोग सोचते हैं कि संस्कृत भाषा मर गयी है या संस्कृत के माध्यम से अब नया चिंतन या लेखन नहीं हो रहा है, उन्हें इन ग्रन्थों को पढ़कर अपने अज्ञान को दूर करना चाहिए । भारतीय दर्शन की नव रचनाएं आज भी संस्कृत में हो रही हैं ।

शतभूषणी के पूर्व अनन्तकृष्ण शास्त्री ने अद्वैतसिद्धि पर एक सारगर्भित टिप्पणी लिखी थी और अनेक अद्वैत ग्रन्थों का सम्पादन करके प्रकाशन किया था । उनकी अन्तिम मौलिक कृति 'अद्वैततत्वसुधि:'[१] है जिसमें

---

१ अद्वैततत्वसुधि:, एन०एस० अनन्तकृष्णशास्त्री, भारतीय विज्ञान प्रेस, मद्रास, १९५८

उन्होंने विशिष्टाद्वैत का खण्डन सरल रीति से किया है । पण्डितराज टि० वे० रामचन्द्र दीक्षित ने उनकी शतभूषणी के बारे में लिखा है कि शतभूषणी ब्रह्मसिद्धि, इष्टसिद्धि और अद्वैतसिद्धि की शैली में लिखा गया एक मूल्यवान ग्रन्थ है[2]। पुनः, पण्डित टि० व० वेंकटेश्वर दीक्षित ने इस ग्रन्थ के बारे में कहा है कि इसमें केवल विशिष्टाद्वैत का खण्डन ही नहीं है अपितु अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन भी है[3]। अन्त में, पोलकं श्रीरामशास्त्री कहते हैं कि शतभूषणी वास्तव में अनन्तभूषणी है और इसमें अद्वैत-दर्शन पर लगाये गये समस्त दोषों का निराकरण किया गया है[4]।

शतभूषणी ने निश्चय ही संस्कृतज्ञों के मध्य एक महनीय स्थान प्राप्त किया है । जिस ढंग से उसमें वेदान्तदेशिक की शतदूषणी का खण्डन किया गया है, वह आधुनिक युग के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि जैसा कि हमने पिछले अध्याय में लिखा है, आधुनिक युग में शतदूषणी के तर्कों का प्रचार भारतीय दार्शनिक डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त और डा० एस० एम० श्रीनिवासचारी ने विशेषरूप से किया है । उनके तर्कों के खण्डन के लिए हम यहां शतभूषणी से दस विषयों पर उन तर्कों को प्रस्तुत करेंगे जो विशिष्टाद्वैतवादी आरोपों का

---

२ 'ब्रह्मेष्टाद्वैतसिद्धीनां प्रक्रियाशतभूषणी ।
विमोचनाय सुधियां कल्पतां शतभूषणी ॥'
शतभूषणी, महामहोपाध्याय अनन्तकृष्णशास्त्री,
सुरानी गांव, पालघाट, मद्रास, प्रथम संस्करण, १९५५, पृ० iii

३ 'सोऽयं ग्रन्थः न मतान्तरखण्डनरूपः, अपि तु स्वीयसिद्धान्तमण्डनरूपः'।
वही, पृ० iii

४ 'शतभूषण्यभिख्यानन्तकृष्णविदां कृतिः।
अनन्तभूषणी ख्याता वर्धतां शतभूषणी ॥' वही, पृ०

निराकरण करते हुए अद्वैतवाद का सुष्ठु प्रतिपादन भी करते हैं । यद्यपि अनन्तकृष्ण शास्त्री की शैली विजिगीषु की शैली है और वे विनोदार्थ अथवा गर्ववश कभी-कभी भ्रूभंग प्रभृति शब्दों का प्रयोग करके विशिष्टाद्वैतवादियों का मानमर्दन करते हैं तथापि उनके इन भावात्मक अंशों को छोड़कर शुद्ध तर्क की दृष्टि से हम यहां विवेचन करेंगे । पुनश्च, उन्होंने अपने तर्कों में यथासम्भव प्राचीन अद्वैतवादियों की युक्तियों का बहुतायत से अनुवाद किया है । किन्तु हम यथासंभव उनके उन सन्दर्भों को विशेष महत्व न देकर उनके द्वारा प्रस्तावित मौलिक युक्तियों को अग्रसारित करेंगे ।

भेद असम्भव है

वेदान्तदेशिक ने जो यह सिद्ध किया है कि भेद प्रतीति अलौकिक प्रत्यक्ष है, वह अद्वैतवेदान्तियों को मान्य है । परन्तु उनका कहना है कि भेद प्रतीति प्रतीयमान अवश्य है किन्तु सत्य नहीं है । प्रश्न उठता है कि भेद प्रतीति का कारण क्या है ? जब इस प्रश्न की मीमांसा होती है तो ज्ञात होता है कि भेद प्रतीति पारमार्थिक नहीं है । इसका कारण अविद्या है[5]। इसलिए अद्वैतवेदान्ती मानते हैं कि कार्यरूप से वस्तुयें भिन्न-भिन्न हैं परन्तु कारण रूप से वे सब अभिन्न हैं । इस प्रकार भेद प्रतीति द्वारा सत्ताभेद सिद्ध नहीं होता ।

फिर, जब वेदान्तदेशिक कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु स्वयं से अभिन्न है और अन्य वस्तु से भिन्न है तब उनका ब्रह्मवाद इस मत से असंगत हो जाता है । जब सब ब्रह्म है तब भेद के रहते सर्व ब्रह्म कैसे हो सकता है और

---

५ शतभूषणी, प्रथम भाग, द्वितीय अंश, पृ० ६८

यदि है तो फिर भेद को पारमार्थिक नहीं मानना चाहिए । भेद और अभेद दोनों को पारमार्थिक तो स्वयं वेदान्तदेशिक ही मानते हैं । वस्तुतः भेद को अपारमार्थिक मानने में ही व्यवहार की उपयोगिता है । व्यावहारिक धर्म और व्यावहारिक धर्मी में ही भेदाभेद संभव है । भेद की व्याख्या नहीं की जा सकती, ऐसा खण्डनखण्डखाद्य में अनेक प्रकार से सिद्ध किया गया है जिसका खण्डन वेदान्त देशिक नहीं करते हैं जो वास्तव में उनके समक्ष विद्यमान था[6]।

<u>दृश्यत्व-युक्ति</u>

अद्वैतवेदान्तियों के मत में सदसद् विलक्षणत्व अप्रसिद्ध नहीं है । 'इदं रजतम्' इस अनुभव में रजत का ज्ञान प्रसिद्ध है । किन्तु यह रजत सत् नहीं है क्योंकि यह बाधित हो जाती है । पुनश्च, यह असत् भी नहीं है क्योंकि अनुभूत है । अतः वेदान्त-देशिक का यह कहना कि सदसद्वि-लक्षणत्व अप्रसिद्ध विशेषण है, गलत है[7]।

पुनश्च, उपाधि के प्रतिपन्न होने पर जो बाध्यत्व होता है, वह मिथ्या का लक्षण है । इसके खण्डन में वेदान्त देशिक ने जो कहा है

---

६ '- - -सर्वथा पारमार्थिको भेदो दुर्वचः, इत्यद्वैतसिद्धान्तो न कथमपि दुष्यति । खण्डनखण्डखाद्यं तु भेददुर्वचत्वे बहु पराक्रमते, तस्योत्तरं लेशतोऽपि शतदूषणी न ददाति ।' वही, पृ० ७२-७३

७ '- - - न चेदं सदसद्विलक्षणत्वं परं प्रत्यप्रसिद्ध विशेषणम् ; शुक्तिरूप्यमिथ्यात्वं प्रत्यक्षबाधान्यथानुपपत्त्यादिना प्रत्यक्षोक्तानुमान-प्रवृत्तेः, शुक्तिरूप्ये च तस्य बाध्यत्वस्य प्रसिद्धत्वात् ।' वही, पृ० ८३

यह ठीक नहीं है क्योंकि शुक्तिरूप्य स्थल में प्रतियोगी शुक्तिरूप्य का मिथ्यात्व और उसके अभाव का सत्यत्व देखा जाता है। इस प्रकार व्यवहार दशा में कहीं-कहीं प्रतियोगी का मिथ्यात्व और उसके अभाव का सत्यत्व देखा जाता है। इसका कारण, शुक्तिरूप्य जैसे प्रतियोगी का प्रातिभासिक सत् होना है। उसका अभाव शुक्ति ज्ञान से अबाधित है और वह व्यावहारिक सत् है। शुक्ति पर जैसे रजत का आरोप नहीं हो सकता है वैसे रजत के अभाव का भी आरोप उस पर नहीं हो सकता है। भ्रम काल में रजत का अनुभव होता है परन्तु रजत का अभाव शुक्ति ज्ञान से बाध्य नहीं है। इस प्रकार रजत का अभाव व्यावहारिक सत् है। परन्तु ब्रह्मज्ञान से प्रपंच और उसके अभाव दोनों का बाध हो जाता है, जैसे स्वप्न में गज और उसके अभाव दोनों का मिथ्यात्व देखा जाता है। अतः भ्रम स्थल पर भी प्रतियोगी और उसके-अभाव में से एक का सत् होना और दूसरे का मिथ्या होना कोई प्रामाणिक नियम नहीं है। यह अनैकान्तिक है। अतः बाध्यत्व बाध्यत्वपक्ष गलत नहीं है[८]।

---

८ "- - -यत्तु शुक्तिरूप्यादिस्थले प्रतियोगिनश्शुक्तिरूप्यस्य मिथ्यात्वम्, तदभावस्य सत्यत्वं च दृश्यते, इति प्रतियोग्यभावयोरेकमिथ्यात्वेऽपर-सत्यत्वमिति न्यायो व्यवहारदशायां क्वचन बाधस्थले दृश्यते, तत्र कारणं रूप्यस्य प्रातिभासिकत्वम्, तदभावस्य शुक्तिज्ञानेनाबाध्यस्य व्यावहारिकत्वमिति उक्तमेव एव । तत्र कारणं तु शुक्तिरूप्यतदभावयोरेकबाधकाबाध्यत्वम् । शुक्तौ रजतस्येव तदभावस्याप्यनारोपात, भ्रमकालेऽपि रजतानुभवस्य वस्तुगत्या विद्यमानत्वाच्च न रजताभावः शुक्तिज्ञानबाध्यः । प्रकृते तु ब्रह्मज्ञानेन प्रपंचतदभावयोरुभयोरपि प्रपंचत्वरूपैकनिधर्म्यतावच्छेदक धर्मेण बाधात्, ब्रह्मणि प्रपंचतदभावयोरुभयोरप्यारोपाच्च न बाध्यत्वबाध्यत्वेन प्रपंच-सत्यत्वापत्तिः । स्वाप्नस्थले गजतदभावद्वये द्वयोरपि गजतदभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वं दृष्टम्, इति भ्रमस्थलेऽपि प्रतियोगितदभावयोरेकमिथ्यात्वेऽपर-सत्यत्व नियमोऽनैकान्तिकः, इति बाध्यत्वबाध्यत्वपक्षः यौक्तिक एव ।"

वही, पृ० ८३-८४

यदि बाध्यत्व को ब्रह्मस्वरूप से अन्य माना जाय तो भी अद्वैतवाद को कोई क्षति नहीं है क्योंकि वह अविद्या-निवृत्ति को पंचम प्रकार की मानता है[९]।

पुनश्च, स्वात्यंताभावाधिकरण से प्रतीयमान होना मिथ्यात्व है, यह पक्ष भी वेदान्तदेशिक ने ठीक से नहीं समझा है । वास्तव में प्रपंच बाधक श्रुतियों के द्वारा प्रपंच का अभाव सिद्ध किया जाता है । अतः प्रपंचाभाव प्रत्यक्ष बाध नहीं है । वास्तव में, घटादिरूप प्रपंच का जब सद्‌रूप ब्रह्म पर आरोप किया जाता है, तो वह प्रत्यक्ष भी भ्रम है । इसी प्रत्यक्ष को श्रुतियां अप्रामाणिक सिद्ध करती हैं[१०]।

सद् से विविक्त होना मिथ्यात्व का लक्षण माना गया है । ब्रह्म विविक्त होना शुक्त्यध्यासवत् है या प्रातिभासिक सद् है या व्यावहारिक सत् है । मिथ्यात्व का विरोधी जो सद् है वही ब्रह्म है और उसका प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष में ब्रह्मविषयक योग्यता नहीं है । उसका ज्ञान श्रुति से तथा स्वानुभूति से होता है । अतः प्रत्यक्षबल पर जब वेदान्तदेशिक मिथ्यात्व का खण्डन करते हैं तब उनका आधार और साध्य दोनों दोषपूर्ण हैं ।

---

९ 'बाध्यत्वं ब्रह्मस्वरूपादन्यदिति द्वितीयपक्षोऽपि नाद्वैतसिद्धान्तदृष्ट्या दुष्यति ; तत्र हि ब्रह्मसिद्धिकारानुसृतमायाद्वैतपक्षानुसारेण, इष्टसिद्धिकारानन्दबोधाचार्यादिव्यवस्थापितपंचमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षेण वा मिथ्यात्वाबाध्यतायामपि निर्विवादसम्भवात् ।' वही, पृ० ८४

१० वही, पृ० ८५

अज्ञान भावरूप है

वेदान्त देशिक मानते हैं कि अज्ञान ज्ञान का अभाव है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्ती मानते हैं कि ज्ञान मात्र अज्ञान का विरोधी नहीं है क्योंकि अज्ञान का विरोधी कोई विशेष ज्ञान होता है। सामान्य ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं है। `अहं न जानामि` इत्यादि अज्ञान के उदाहरण हैं। इसमें आत्मा स्वप्रकाशरूप से विद्यमान् है। इसलिए सामान्यरूप से जो आत्मज्ञान प्रत्येक विशेष ज्ञान में रहता है उसका कोई विरोध अज्ञान से नहीं रहता है। इसी तथ्य को लेकर अनन्तकृष्ण शास्त्री ने वेदान्तदेशिक के ज्ञानाभाव-अज्ञानवाद का खण्डन किया है और भावरूप अज्ञानवाद का प्रतिपादन किया है[११]। वेदान्त देशिक इस तथ्य का पूर्ण मूल्यांकन न कर सके और उन्होंने अज्ञान को ज्ञान का विरोधी ही मान लिया।

अज्ञान यदि भाव रूप है तो भी स्वरूपज्ञान रहने पर ही उसके आवरक के रूप में अज्ञान होता है और आवृत स्वप्रकाश साक्षी के द्वारा भासित होता है। अतः अज्ञान का प्रत्यक्ष होना सम्भव है[१२]। वास्तव में वेदान्तदेशिक अद्वैतवेदान्त के इस मत को नहीं समझ सके कि प्रत्येक वस्तु ज्ञात रूप से या अज्ञात रूप से साक्षिभास्य है।

---

११ वही, तृतीय भाग, पृ० ६५

१२ `- - - - तथाचाज्ञानं यदि भावरूपम्, तर्हि स्वरूपज्ञाने सत्यपि तदावरकतया वर्तते, आवृतेन स्वप्रकाशेन साक्षिणा भासते च। अतः प्रत्यक्षम्-न जानामीत्यादिरूपेण।`

वही, पृ० ६७-६८

पुनश्च, यदि भावरूप अज्ञान को आवरण काल में ज्ञान विरुद्ध कहा जाय तो भी वस्तुत: व्याघात नहीं है । वृत्तिरूपी वो अज्ञान में परस्पर विरोध होता है । किसी वृत्तिरूपी अज्ञान का विरोध स्वप्रकाश ज्ञान से नहीं है । स्वरूपप्रकाश ज्ञान और अज्ञान में अविरोध है।[13] पुनश्च, यह अज्ञान न सत् है और न असत् किन्तु सदसद्विलक्षण है, ऐसा ब्रह्मसिद्धिकार मंडन मिश्र कहते हैं । इसी को अनिर्वचनीय भी कहा गया है । अनन्तकृष्ण शास्त्री ने माध्यमिक, योगाचार, पातंजलि योग आदि सभी दर्शनों के अनुसार अविद्या अनिर्वचनीय है, ऐसा प्रतिपादन किया है।[14] फिर, उनका कहना है कि श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य ने भी विपरीत ख्याति को स्वीकार किया है जिसके कारण उनके मत से भी भावरूप अज्ञान की अनिर्वचनीयता प्रतिपादित हो जाती है।[15]

जहाँ तक भावरूप अज्ञान के प्रत्यक्ष का प्रश्न है वहाँ तक अद्वैतवेदान्त भी इसको वैसे ही प्रत्यक्ष मानता है जैसे वेदान्त देशिक मानते हैं । 'घटं न जानामि', 'अहं न जानामि' इत्यादि अज्ञानप्रत्यक्ष के उदाहरण हैं । परन्तु यह अज्ञान प्रत्यक्ष साक्षि प्रत्यक्ष है न कि प्रमाणजन्य प्रत्यक्ष । अत: इसका स्वप्रकाशज्ञान से कोई विरोध नहीं है । वेदान्त देशिक अज्ञानप्रत्यक्ष का

----

१३ 'भावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानविरुद्धत्वं स्वावरणकाले तद्विरोधिवृत्त्यभावमात्रेण न व्याहन्यते ; वृत्त्यज्ञानयोरेवपरस्परविरोधस्वीकारात् । न हि तावता स्वरूपाप्रकाशोऽपि ; स्वरूपप्रकाशाज्ञानयोरविरोधात् ।' वही, पृ० ९९

१४ वही, पृ० १०५

१५ '- - - -अत्यन्तविरुद्धेऽविवेकमात्रेण भ्रमव्यवहारसंभवात् विपरीतख्यातिरपि श्रीभाष्यकाराणामभिमतेति तदीया निबन्धयन्ति । अतो भावरूपमज्ञानमनिर्वचनीयमिति संप्रतिपन्नम् ।'

वही, पृ० १०५

अपर्याप्ति विश्लेषण करते हैं । पर्याप्ति विश्लेषण से अनन्तकृष्ण शास्त्री ने सिद्ध किया है कि भावाज्ञानवाद में अज्ञानप्रत्यक्ष का पूर्ण निर्वाह है[16]।

अनन्तकृष्ण शास्त्री ने विवरणस्कूल के निम्नलिखित न्याय प्रयोग का उदाहरण अज्ञान के पक्ष में दिया है --विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्-इति[17]। अर्थात् जो अज्ञान स्वप्रागभाव से व्यतिरिक्त, स्वविषय का आवरण तथा स्वदेशगत अन्य वस्तुओं सहित है, (सिद्ध) है क्योंकि वह अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक है जैसे अन्धकार में सर्वप्रथम दीप जलने से दीप की प्रभा अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित करती है ।

इसी प्रकार ज्ञान निवर्त्यता अनिर्वचनीयता चिन्मात्राश्रयता, चैतन्य-आवरकता आदि हेतुओं से भावरूप अज्ञान को सिद्ध किया गया है । यहां उपरोक्त न्यायप्रयोग में उल्लेखनीय है प्रकाशकत्व न तो ज्ञानत्व है न ज्ञानकरणत्व, न ज्ञानकरण का अनुग्राहकत्व, न ज्ञान हेतुत्व, न साक्षात् परम्परयावाविषय-व्यवहार का हेतुत्व । वह है प्राकट्य हेतु या आवरणनिवृत्तिपूर्वक प्रकाशोऽपि-योगिता । अत: वेदान्तदेशिक ने प्रकाशकत्व के जितने विकल्प बनाकर प्रकाशकत्व हेतु का खण्डन किया है, वह उपरोक्त अनुमान के हेतु पर लागू नहीं होता है[18]।

अन्त में, तम आसीत्, तमसा गूळ्हम् इत्यादि श्रुतियों में तम का अर्थ प्रकृति है, ऐसा शतदूषणी भी मानती है । इसी को अद्वैतवेदान्त भावरूप अज्ञान कहता है । अत: अज्ञान श्रुतिसिद्ध भी है क्योंकि माया, प्रकृति,

----

१७ वही, पृ० १०६

१८ वही, पृ० १०८

सम पर्यायवाची हैं और ऐसा श्रीभाष्य के अनुयायी भी मानते हैं । अतएव भावरूप अज्ञानवाद के पक्ष में श्रुति और अनुमान दोनों प्रमाणभूत हैं ।[19]

अविद्या का स्वरूप असंभव नहीं है

अनन्तकृष्ण शास्त्री ने सिद्ध किया है कि सभी दर्शनों को सदसद् से अनिर्वचनीय अविद्या स्वीकार है ।[20] इस अर्थ में शून्यवादियों, विज्ञानवादियों और बाह्यार्थवादियों को भी अविद्या मान्य है[21] । वेदान्त देशिक ने निम्न आपत्ति की है--अविद्या विश्वभ्रम का हेतु है, वह चिन्मात्र ब्रह्म का एक दोष है क्योंकि यदि अविद्या पारमार्थिक है तो वह ब्रह्म से भिन्न होने पर अद्वैत की हानि कर देगी और ब्रह्म से अभिन्न होने पर ब्रह्म को विश्वभ्रम के हेतु दोष से युक्त कर देगी और ब्रह्म से नित्यभ्रम की उत्पत्ति हो जायेगी[22] । पुनश्च, अविद्या को अपारमार्थिक मानने पर भी ये सारे दोष बने रहते हैं[23] ।

इस आपत्ति पर अनन्तकृष्ण शास्त्री का कहना है 'अविद्याया ब्रह्मणो भिन्नाया अपि पारमार्थिकत्वस्य, ब्रह्मरूपत्वस्य वाऽनंगीकारेण स्वतः, सहकारिदोषवशाद्वा ब्रह्मणो विश्वभ्रमहेतुत्वस्यानंगीकारात्' ।[24] अर्थात् अविद्या ब्रह्म से भिन्न है । वह पारमार्थिक नहीं है । वह ब्रह्मरूप भी नहीं है । उसके सहकारी होने से ब्रह्म में विश्वभ्रम की हेतुता भी नहीं है । अविद्या को

---

१९ '- - - सर्वथा तु भावरूपेऽज्ञाने प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमश्च सर्वाण्यपि प्रमाणानि निराबाधानि ।' वही, पृ० १११

२० 'सर्वप्रवादिभिरवेत्यमियमास्थेया' । वही, पृ० १२१-२२

२१ वही, पृ० १२१-२२

२२ शतदूषणी, पृ० १६६ और शतदूषणी, पृ० १२२

२३ वही, शतदूषणी, पृ० १६६

२४ व शतदूषणी, पृ० १२२

पारमार्थिक या अपारमार्थिक में से किसी एक कोटि में रखना काकदन्त परीक्षा है।[25] अद्वैतवेदान्ती अविद्या को व्यावहारिक मानते हैं जो लौकिक दृष्टि से पारमार्थिक है किन्तु वास्तव में अपारमार्थिक है।[26] लौकिक परमार्थ की कल्पना अद्वैतवाद की एक विशिष्ट देन है । यही अविद्या का दुर्घटत्व रूप है । यह वास्तव में अद्वैतवेदान्त का दूषण नहीं किन्तु भूषण है।[27] रामानुज के अनुयायीगण अविद्या के उस स्वरूप को नहीं समझते हैं । वे उसको अपने ढंग से अपनी कोटियों में अन्तर्भुक्त करके समझने का प्रयास करते हैं और फिर उस पर दोषारोपण करते हैं, यही उनका दोष है ।

<u>ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है</u>

अविद्या के सम्बन्ध में आश्रयानुपपत्ति का-निराकरण करते हुए अनन्तकृष्ण शास्त्री मुख्यत: चार तर्क प्रस्तुत करते हैं ; पहला, अज्ञान का आश्रय संविन्मात्र है।[28] वेदान्तदेशिक इस संविद को ज्ञाता रूप में लेते हैं जो ठीक नहीं है । वास्तव में यह संविन्मात्र निर्विशेष है । अखण्डाकारवृत्ति जिसे कोई जीव प्राप्त करता है, वह संविद मात्र नहीं है । संविन्मात्र से अखण्डाकारवृत्ति अभिन्न है किन्तु जीवाश्रित होने के कारण वह सविशेष है । अत: अखण्डाकारवृत्ति अज्ञान का निवर्तक है । पुनश्च, संविन्मात्र ज्ञानरूप से ज्ञान और अज्ञान दोनों का आश्रय है । इसलिए उसमें निवर्त्यनिवर्तक भाव नहीं है । जीवगत या अन्त:करणगत वृत्तिज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है।[29] संविन्मात्र सर्वव्यापक है । अत: यह नहीं कहा जा सकता कि अज्ञान उससे बाहर है।[30] वास्तव में अज्ञान अध्यासित है । ब्रह्म जो शुद्ध ज्ञान है, वह अज्ञान का

---

२५ वही, पृ० १२३ । २६ वही, पृ० १२३ । २७. वही, पृ० १२३

२८ '- - -संविन्मात्राश्रयमित्येवाद्वैतिनां राद्धान्त:।' वही, द्वितीय भाग, पृ० ३५

२९ '- - -जीवगतेन, अन्त:करणगतेन वा वृत्तिज्ञानेनैवाज्ञाननिवृत्ति:, न तु तदतिरिक्तेन सविशेषप्रकाशमात्रेणेति तु निष्कर्ष: ।' वही, पृ० ३६

३० '- - न हि सर्वव्यापकं ज्ञानं ज्ञातु वेदे नास्ति, येनाज्ञानाश्रयस्य संविन्मात्रस

आश्रय नहीं है । अज्ञान ज्ञाता के ही आश्रित है । ब्रह्म ज्ञाता नहीं है । इसलिए ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं है ।

दूसरा, जैसे वेदान्त-देशिक के मत में स्वप्रकाशांश का प्रत्यनीक अप्रकाश प्रत्यगात्मा का अन्धकार नहीं है, उसी प्रकार अद्वैत मत में संविन्मात्र का प्रत्यनीक अज्ञान प्रत्यगात्मा का नहीं है । वह संविन्मात्र की एक वृत्ति विशेष है । इस प्रकार आत्मा स्वप्रकाश भी है और अज्ञान का आश्रय भी है, ऐसा मानने में कोई व्याघात नहीं है ।[१]

तीसरा, ब्रह्म अविद्या का आश्रय होने पर ही नित्यमुक्त परमात्मा की संविच्छक्ति अविद्या का आश्रय है । प्रकटार्थकार के मत से शुद्ध ब्रह्म बिम्ब है और दोनों, जीव और ईश्वर माया की अवस्थाभेद से प्रतिबिम्ब हैं । मायोपाधि होने पर भी ईश्वर केवल माया का कारण ही है । उसमें सुख-दु:खादि माया की अवस्थायें नहीं हैं । इसलिए वह भी नित्यमुक्त है । परन्तु जीव में सुख-दु:खादि माया के कार्य ही हैं । इसलिए जीव बद्ध है । इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म अविद्या का आश्रय होने पर भी नित्यमुक्त है । पुनश्च, विवरणमत में ईश्वर बिम्ब है और जीव प्रतिबिम्ब है । ब्रह्म जो अविद्या का आश्रय है वह बिम्बप्रतिबिम्ब दोनों से बहिर्भूत है । अत: ब्रह्म बन्धन से मुक्त है । फिर, अविद्याश्रयत्व ही बद्ध हो तो प्रकृति-शरीरकत्व ईश्वर भी बद्ध हो जायेगा जो वेदान्त देशिक को स्वयं स्वीकार्य न होगा । इसलिए अविद्याश्रयत्व बन्धन नहीं है ।

चौथा, वेदान्तदेशिक का यह कथन कि सर्वज्ञ होने के कारण ब्रह्म अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, गलत है । सर्वज्ञत्व आदि गुण

---

३१ "- - - - तथा च स्वप्रकाशत्वेऽपि चैतन्यमात्रस्य स्वाज्ञानाश्रयत्वस्य व्याहतिः ।" वही, पृ० ४१

कल्पित हैं । वे निर्विशेष ब्रह्म में नहीं हैं । इसलिए शुद्ध ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि का आरोपण गलत है । वास्तव में शतदूषणी शुद्ध ब्रह्म को सर्वज्ञ मानकर आक्षेप करती है । अतः उसका आक्षेप मात्र अवान्तर कल्पना है ।

माया-अविद्या

माया और अविद्या के विभाग को लेकर वेदान्तदेशिक ने जो खण्डन किया है, वह निराधार है क्योंकि अद्वैतवादी दार्शनिक अविद्या और माया में भेद नहीं करते हैं । अतः वेदान्तदेशिक के खण्डन का जो निष्कर्ष निकलता है, वह अद्वैतवादियों को इष्टापत्ति के रूप में स्वीकार है । वेदान्तदेशिक का तात्पर्य है कि अद्वैतवादी माया और अविद्या में भेद नहीं कर सकते । यह, अनन्तकृष्ण शास्त्री के अनुसार, इष्टापत्ति है न कि दोष क्योंकि भामती प्रस्थान में माया की स्वीकृति नहीं है ।[32] वहां केवल अविद्या की ही स्वीकृति है ।[33] अतः वेदान्तदेशिक का मायाऽविद्याविभागभंग स्वयं उन्हीं का मुंहभंग है[34] क्योंकि माया और अविद्या का विभाग उन्हीं के दर्शन में स्वीकृत है । अतएव इस विभाग का खण्डन करके उन्होंने अपनी ही सींग तोड़ी है ।

यद्यपि कुछ अद्वैतवादी आवरणशक्ति को माया और विक्षेप शक्ति को अविद्या कहते हैं तथापि उनका यह सिद्धान्त माया और अविद्या का स्वरूपभेद नहीं सिद्ध करता है । एक ही माया की ये दो शक्तियां हैं । शक्ति द्वय से युक्त माया की विक्षेप शक्ति का ही आश्रय ब्रह्म है । आवरण शक्ति का आश्रय ब्रह्म नहीं है । ब्रह्म उसी शक्ति का विषय है ।[35] वास्तव में

---

३२ `भामतीप्रस्थानं तु मायामेव न स्वीकरोति ।` वही, तृतीय भाग, पृ० १३६

३३ `- - -तत्रापि केवलाविद्यैव स्वीक्रियते - - -।` वही, पृ० १३६

३४ वही, पृ० १३६ और १४४

३५ `शक्तिद्वयात्मक मायाविक्षेपशक्त्यंशेन ब्रह्माश्रयते, आवरणशक्त्यंशेन ब्रह्मा-वृणोतीति कृपादीनां शुक्तिरजतादिप्रतिभानविरोधित्वेनैव दोषत्व-मप्यर्थसिद्धम् ।` वही, पृ० १३८

इस प्रसंग में अविद्या के सम्बन्ध में वेदान्तदेशिक की जो आलोचना है, उसी का अधिक महत्व है क्योंकि अन्ततोगत्वा माया का मूलस्वरूप अविद्या ही है। इसलिए वेदान्तदेशिक और अनन्तकृष्ण शास्त्री के खण्डन-मण्डन के जाल से जो मुख्य वस्तु उपलब्ध होती है, वह अविद्या का ही खण्डन-मण्डन है।

जीव अज्ञान का आश्रय है

मण्डनमिश्र और वाचस्पतिमिश्र के मत से अविद्या का आश्रय जीव है। उनके मत से जीव भी नाना है और इस कारण अविद्या भी नाना है। फिर उनके मत से जीव और अविद्या का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इस कारण अविद्या, जीव और उनका सम्बन्ध एक साथ घटित होते हैं- एक साथ स्थिर रहते हैं और अन्ततोगत्वा एक साथ अपबाधित होते हैं। अत: इनमें पूर्वापर का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु इस मत को न समझकर वेदान्त देशिक ने बार-बार आपत्ति उठायी है कि अविद्या का आश्रय जीव कैसे हो सकता है? जीव कैसे अनेक हो सकते हैं? और अविद्या कैसे अनेक हो सकती है?[36] 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति के आधार पर जीव को अविद्या का आश्रय माना जाता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जीव में ईश्वर का रूप नहीं है, स्वरूप नहीं है। वास्तव में जीव में सत्, ज्ञान, आनन्द, नाम और रूप, ये पांच लक्षण हैं। प्रथम तीन ब्रह्म के लक्षण हैं और अन्तिम दो माया के लक्षण हैं। इस प्रकार मायिक अंश को ही अविद्या का आश्रय माना गया है न कि उसके ब्रह्म अंश को। व्यावहारिक धरातल पर जीवभेद तथा जीव-ईश्वर भेद और अविद्यामय जगत् वास्तविक हैं। इस मत को न समझने के कारण ही वेदान्तदेशिक ने जीवाज्ञानवाद पर अनर्गल, निराधार आरोप लगाया है।

---

36 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य।' आदि तैत्तिरीय उपनिषद्

ब्रह्म का तिरोधान संभव है

तिरोधानानुपपत्ति का निराकरण करते हुए अनन्तकृष्ण शास्त्री कहते हैं कि आवरण को वेदान्तदेशिक ने जिन आठ विकल्पों में विभक्त कर खण्डन किया है उनमें से प्रथम तीन विकल्प दूषित नहीं है । उनके बारे में वेदान्तदेशिक ने जो कहा है, वह व्यावहारिक दृष्टिकोण से अद्वैतवेदान्त की मान्यताओं के विपरीत है । इसलिए वह सब उनका अनर्गल अपलाप है । स्वप्रकाशचैतन्य में अज्ञान प्रयुक्त आवरण सम्भव है[37]। वास्तव में अद्वैतवेदान्त आवरण को अनादि मानता है[38]। चित् और अज्ञान का सम्बन्ध ही आवरण है । यह आवरण चित् की एक योग्यता या शक्ति है । इसके कारण पूर्णानन्द की अनुभूति नहीं होती । जैसे शाखा में वृक्षाकपि संयोगी है और मूल में वही वृक्ष कपिसंयोगी नहीं है, उसी प्रकार चिदंश में चैतन्य अनावृत है और आनन्दांश में वह आवृत या आवरण है । इसी प्रकार आवरण और उसका अभाव दोनों ब्रह्म की सत्ता के पहलू हैं । किन्तु ये दोनों पहलू वास्तविक न होकर कल्पित हैं । इस प्रकार अंशांशिभाव को न मानते हुए भी 'यथानुरूपोपपत्तिः' इस न्याय के द्वारा वेदान्तदेशिक को उन्हीं के सिद्धान्तों द्वारा प्रत्युत्तर दिया जा सकता है[39]।

---

३७ '- - -स्वप्रकाशे चैतन्येऽज्ञानप्रयुक्तत्वसंभवात् प्रथमद्वितीयकल्पौ न दुष्टौ । अतएव तृतीयोऽपि कल्पः व्याख्यातः - - -'। शतभूषणी, तृतीय भाग, पृ० ३०-३१

३८ '- - - इदं आवरणमनादि - - - -।' वही, पृ० २५-२६ और 'जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा । अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ।' वही, पृ० २६

३९ '- - - कपिसंयोगतदभावयोर्वृक्षावच्छिन्नयोर्वृक्षासमवायशाखामूलरूपावच्छेदकभेदेन विरोधपरिहारः - - -।' वही, पृ० ३७

अविद्या का निवर्तक सम्भव है

अद्वैतवेदान्ती यह मानते हैं कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन और ब्रह्मचर्यादि शास्त्रीय साधनों के द्वारा अविद्या निवृत्त होती है। इष्टसिद्धि के अनुसार स्वप्रकाश भी प्रमाणप्रकाश्य है। ज्ञान प्रमाणजन्य है।[40] वही प्रमाणजन्य ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है। केवल आत्मप्रकाश अज्ञान का निवर्तक नहीं है। अखण्डाकारवृत्तिमात्र से उपहित चैतन्यरूपज्ञान, इस प्रकार अविद्या का निवर्तक है।

इस वस्तुस्थिति को न समझकर वेदान्तदेशिक ने आरोप लगाया है कि ब्रह्मविषयक वृत्तिज्ञान अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता और न आत्मस्वरूपज्ञान अविद्या का निवर्तक हो सकता है। उन्होंने कहीं भी इस मत का खण्डन नहीं किया है कि अखण्डाकारवृत्तिमात्र से उपहित चैतन्यरूप ज्ञान अविद्या का निवर्तक है। इस कारण उनका खण्डन अन्यान्तर कल्पनामात्र है।[41]

अविद्यानिवृत्ति सम्भव है

अज्ञाननिवृत्ति वैसे ही अनिर्वचनीय है जैसे अज्ञान या अविद्या अनिर्वचनीय है। अविद्यानिवृत्ति को इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती लोग पंचम प्रकार मानते हैं। वेदान्तदेशिक इसको माध्यमिकों के शून्य से अभिन्न करते हैं। किन्तु उनका ऐसा अभेद करना ठीक नहीं है क्योंकि शून्य को असत से भिन्न स्वीकार किया गया है और अविद्या सत, असत्, सदसत् तथा अनिर्वाच्य, इन चारों से भिन्न है। फिर, अविद्या लौकिक परमार्थ है जो शून्य नहीं है। इसलिए पंचम प्रकार को बिना जाने समझे वेदान्तदेशिक ने पंचम प्रकारता का खण्डन किया है। इससे उनकी जो आत्मतुष्टि है, वह मात्र मनोरथ है।[42]

---

४० वही, पृ० १४५। ४१ वही, पृ० १५६

४२ 'अज्ञात्वैव पंचमं प्रकारम्, पंचमप्रकारताखण्डनम्, तेनात्मतुष्टिश्च स्वमनः कल्पितमनोरथमात्रेण विजयमात्रेव।' वही, पृ० १५८

वार्तिककार सुरेश्वर ने लिखा है "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः"[५३] अर्थात् अविद्या निवृत्ति का उपलक्षण ज्ञान है जिसे हमने ऊपर प्रमाणजन्य ज्ञान कहा है ।

--०--

---

५३ वही, पृ० १६१

सप्तम अध्याय

-0-

मनुष्यणी का खण्डन

सप्तम अध्याय

-0-

शतदूषणी का खण्डन

वीरराघवाचार्य का परमार्थभूषणम्

उत्तमूरवीरराघवाचार्य आधुनिक भारत के संस्कृत जगत् में प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक हैं। १४वीं शताब्दी में जिस प्रकार वेंकटनाथ ने अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत की पुनः स्थापना की थी और इस कारण से वेदान्तदेशिक के नाम से विख्यात हुए थे, ठीक उसी प्रकार २०वीं शताब्दी में वीरराघवाचार्य ने अर्वाचीन अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत वेदान्त की पुनः नयी स्थापना की और इस कारण से अभिनव-देशिक के नाम से जाने जाते हैं। श्रीभाष्य पर 'भाष्यार्थ दर्पणम्' नामक उनका भाष्य है। वेदान्तदेशिक एवं रामानुजाचार्य के लगभग सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। संस्कृत और तमिल भाषा में लगभग ५० ग्रन्थ का उन्होंने प्रणयन किया है। इन ग्रन्थों में कुछ मौलिक हैं, कुछ भाष्य हैं और कुछ टीकाएं हैं। मौलिक ग्रन्थों में 'परमार्थभूषणम्', परमार्थ प्रकाशिका' तथा 'श्री वेंकटेशकल्याणचरितम्' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शतदूषणी के खण्डन में १०८० पृष्ठों का परमार्थभूषणम् नामक एक ग्रन्थ उन्होंने १९५९ ई० में लिखा। वे मानते हैं कि वेदान्तदेशिक ने शतदूषणी में अद्वैतवाद का सम्यक् खण्डन कर दिया है तथा रामानुज के विशिष्य में इष्टसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि और नैष्कर्म्यसिद्धि—इन अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों का खण्डन

---

१. परमार्थभूषणम्, उत्तमूरवीरराघवाचार्य, उभयवेदान्त ग्रन्थ माला, मद्रास, १९५९, पीठिका, पृ० १

कर दिया है[2]। फिर वे मानते हैं कि अनन्तकृष्ण शास्त्री ने शतदूषणी को ठीक से नहीं समझा और उसके कुछेक अंशों को अन्यथा समझकर उसका खण्डन कर दिया है —

> सर्वप्रमाणनिचितां शतदूषणीं यः सम्यग्विभावयितुमप्यसमर्थ एव ।
> यं कंचिदंशमन्यथावबुध्य पूर्वपक्ष्यं पठन् स तत: खलु खण्डकोऽभूत् ।।[3]

शतभूषणी को वे वस्तुस्थितिदर्पण, व्यर्थविस्तार तथा व्याघात घटित मानते हैं[4]। वे समझते हैं कि इसमें शतदूषणी का लेशमात्र भी खण्डन नहीं हुआ है — 'न पुनः शतदूषणीखण्डनमीषदपि । इत्येव दर्शयितुं सम्प्रति प्रवृत्तिरस्माकम्'[5]। उनके कुछ खण्डन केवल खण्डन के लिए हैं। उदाहरण के लिए वे शतभूषणी नाम का भी खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि शतदूषणी में जो ६६ दूषण बताये गये हैं उनमें से ६४ दूषण का खण्डन करने वाली पुस्तक का नाम शतभूषणी कैसे हो सकता है? इसका ठीक उत्तर वे स्वयं दे देते हैं — शतसंख्यायामेव शतपदप्रयोग इति न नियमः, दूषणाधिक्यतात्पर्येणापि शतदूषणीति नामकरणं घटते इति[6]। अर्थात् शत का प्रयोग अधिक दूषण के अर्थ में है, न कि सौ दूषण के अर्थ में। फिर इसी अर्थ में शतभूषणी को भी घटाया जाना चाहिए। इसीलिए वे कहते हैं—'कामं शतभूषणीति ग्रन्थनाम तदभिप्रायमिति तत्त्ववृत्ति निश्चिन्तु'[7]। स्पष्ट है कि यह आलोचना अत्यन्त निःसार है।

वास्तव में जिस साम्प्रदायिक कट्टरता से अनन्तकृष्ण शास्त्री ने शतभूषणी लिखी है उसी साम्प्रदायिक कट्टरता से उत्तमूरवीरराघवाचार्य ने परमार्थभूषणम् लिखा है। दोनों अपने-अपने सम्प्रदाय को नितान्त सत्य समझते हुए दूसरे के सिद्धान्त को नितान्त गलत समझते हैं। वीरराघवाचार्य ने इस प्रवृत्ति का स्वयं उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि आजकल जनता शैव और वैष्णव दो

---

२. वही, पृ० १ ३. वही, पृ० २ ४. वही, पृ० ४
५. वही, पृ० ४ ६. वही, पृ० ४-५ ७. वही, पृ० ४-५

रहे हैं । शैव वैष्णवों को नहीं स्वीकारते और न वैष्णव शैवों को । वे एक दूसरे का खण्डन करते रहते हैं । किन्तु इस खण्डन से विदेशियों को छिद्रान्वेषण करने का अवसर मिलता है[8]। अतः जो बुद्धिहीन लोग हैं, वे ही खण्डन करते हैं । आश्चर्य है कि इस समन्वयवाद को मानते हुए भी वीरराघवाचार्य स्वयं वितण्डा में पड़ गये । उन्होंने परमार्थभूषणम् में जो खण्डन किया है उसके अनुसार अद्वैत-वेदान्त में कुछ भी सत्य नहीं है । वे स्वयं कहते हैं कि कौन जीव है ? कौन ब्रह्म है ? कौन ईश्वर है ? क्या सृष्टि है ? यह सब अद्वैतवाद में अव्यवस्थित है[9]? भला ऐसा दृष्टिकोण मानने से कहीं समन्वय हो सकता है ? अतः खण्डन-प्रवृत्ति को बढ़ावा देने में वैष्णवों का भी बहुत बड़ा हाथ है । उनके लिए अकेले अनन्त-कृष्ण शास्त्री को भला-बुरा कहना उचित नहीं है ।

अधिक साम्प्रदायिक और रूढ़िवादी ग्रन्थ होने के कारण परमार्थभूषणम् का दार्शनिक मूल्य उतना नहीं है जितना शतभूषणी का, क्योंकि शतभूषणी ने कम से कम एक नया प्रयास किया है और अनेक समस्याओं के पुनर्मूल्यांकन को उपेक्षित किया है । परमार्थभूषणम् में वह नवीनता और वह उपेक्षा नहीं है ।

फिर भी उनकी उन युक्तियों को हम यहां विवेचनार्थ प्रस्तुत करेंगे जो माया-अविद्या से विशेष सम्बन्ध रखती हैं । हमारी यह प्रस्तुति केवल निदर्शन के रूप में है, परमार्थभूषणम् के विशद विवेचन के लिए नहीं ।

सर्वप्रथम, यहां भेद की वास्तविकता का और तदुपरान्त जगत् एवं माया सम्बन्धी विचार का प्रतिपादन किया जायेगा ।

८, वही, पृ० २-४

९, को ब्रह्म: कश्च जीवः स्यात् कश्चेशः का च देवता ।
क्वास्ति सृष्टिरित्यादम् अद्वैतेऽव्यवस्थितम् ॥
वही, पृ० २

भेद की वास्तविकता

अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेदरहित है । इस 'भेद' शब्द को लेकर अद्वैतियों में दो मत हैं । प्राचीन अद्वैती भेद शब्द को वस्तु के अर्थ में प्रयोग करते हैं किन्तु अर्वाचीन अद्वैती इसका प्रयोग अन्योन्याभाव के अर्थ में करते हैं । परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य अनिर्वचनीयता की स्थापना करना है[10] और इसीलिए वे भेद का खण्डन करते हैं । परन्तु भेद का खण्डन करते हुए भी वे भेद के खण्डन को अस्वीकार करते हैं । पारमार्थिक दशा में वे भेद का पूर्ण अभाव मानते हैं[11] । अद्वैतियों के इस मत का खण्डन करते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि अद्वैतियों के इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि प्रपंच के रहते तक भेद मिथ्या है । अद्वैती प्रपंच को अनिर्वचनीय मानते हैं । अब प्रश्न उठता है कि प्रपंच-अनिर्वचनीयत्व से भिन्न भेदअनिर्वचनीयत्व क्या है ? प्रपंच में घट-पट आदि के भेद का अपलाप मानने पर तो घट-पट का ऐक्य भी मानना पड़ेगा । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' से उक्त ब्रह्म में अनृतजड़परिच्छिन्नभेद का अपलाप करने पर अनृत और ब्रह्म को एक मानना पड़ेगा । दो वस्तुओं में भेद के निषेध का अर्थ है दो वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करके भेद का निषेध करना, जैसे-घट और पट में भेद का अपलाप होता है । इस समस्या के समाधान में अद्वैती कह सकते हैं कि जब वस्तु मिथ्या है तो भेद या अभेद का प्रश्न ही नहीं है । वीरराघवाचार्य का कहना है कि वस्तुओं को मिथ्या मानने पर भेद भी उसी में आ जायेगा और उस स्थिति में विशेषरूप से भेद के निषेध की कोई आवश्यकता नहीं है । पुनः, प्रश्न है कि भेद वस्तु स्वरूप है अथवा धर्म ? और ब्रह्म में जो अनृत आदि भेद हैं, वह स्वरूप हैं अथवा धर्म ? यदि अनृत आदि भेद ब्रह्म का स्वरूप है तो ब्रह्म अनृत भेद, ऐसा व्यवहार भी हो सकता है । यदि भेद धर्म है तो धर्मिभूतब्रह्म और धर्मभूतभेद में जो भेद है, वह उसका धर्म है और फिर उसका भेद और फिर उसका........ ..

१०, वही, पृ० ३५५-५७

११, 'न वयं सर्वात्मनाभेदमपजानीमः, किन्त्वनिर्वचनीयत्वमेव तत्त्वेवं स्थापयन्तो व्यवहारोपयोगिनीं तावत्तां समतामेव मन्यामहे' इति । वही, पृ० ३५५-५७

और इस प्रकार अनवस्थादोष उत्पन्न हो जायेगा । इस प्रकार ब्रह्म से अनृत का भेद सिद्ध न होने पर ब्रह्म अनृत सिद्ध हो जायेगा । यहाँ अद्वैती कह सकते हैं कि अनृत के अस्वीकृत होने पर ऐक्य की चर्चा ही व्यर्थ है । वीरराघवाचार्य का कहना है कि अनृत के अभाव में अर्थात् घट-पट के अभाव में किसका भेद स्वरूप है या धर्म है ? अतः 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थ ज्ञान होने तक वस्तु और उसका भेद मानना अनिवार्य है और इस स्थिति में घट-पट आदि भेद का अपलाप करना उचित नहीं है । पुनः, अद्वैती कह सकते हैं कि वे पारमार्थिक अभेद मानते हुए भी अविद्याधीन भेद का निषेध नहीं करते हैं । परन्तु वीरराघवाचार्य इस मत से असहमत हैं । उनका कहना है कि प्रत्यक्ष से सिद्ध भेद के विरुद्ध पारमार्थिक अभेद मानना ठीक नहीं है और जब अद्वैती यह कहते हैं कि अद्वैत-श्रुतियों से पारमार्थिक अभेद स्वीकार किया जा सकता है तब वीरराघवाचार्य का उत्तर है कि अद्वैती जिसे अभेदश्रुति मानकर अभेदसिद्ध करते हैं, वह श्रुति अभेद का नहीं, वरन् भेद का प्रतिपादन करती है।[१२]

पुनश्च, ब्रह्मसूत्र का 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः'[१३], यह सूत्र भी भेद का ही प्रतिपादन करता है । पुनः, 'य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति', 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति'[१४] आदि बृहदारण्यक उपनिषद् वाक्यों में प्रथम वाक्य का तात्पर्य है कि परमात्मा आदित्य में विद्यमान है परन्तु उससे अनभिज्ञ है । उस परमात्मा का आदित्य शरीर है । आदित्य के भीतर रहकर वह उसका नियन्ता है । ठीक इसी प्रकार द्वितीय वाक्य का तात्पर्य है कि परमात्मा जीवात्मा में विद्यमान है परन्तु जीवात्मा इस बात से अनभिज्ञ है । जीवात्मा उस परमात्मा का शरीर

---

१२. वही, पृ० २५५-५७

१३. ब्रह्मसूत्र शारीरिकभाष्य, १. १. २२

१४. बृहदारण्यक उपनिषद्, ५.७.६ और ५.७.२२

हैं। जीवात्मा में रहकर परमात्मा उसका नियंता है। इन उपनिषद् वाक्यों का सार 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' सूत्र में कहा गया है। आदित्य और जीव आधार हैं, परमात्मा आधेय है। आदित्य और जीव नियाम्य हैं, परमात्मा नियामक है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव से परमात्मा भिन्न है। अतः इन श्रुति वाक्यों से भेद सिद्ध है। पुनः, यदि सर्वत्र एकमात्र अभेद ही है तो भेद-सम्बन्ध असम्भव है।[15]

पुनश्च, भेद को स्वीकार किये बिना अद्वैती अभेद को नहीं मान सकते हैं। भेद-ज्ञान के बिना अभेद-ज्ञान असंभव है। फिर, जब भेद अस्वीकृत है, तब यह स्वरूप है, अन्योन्याभाव है आदि अनेक प्रकार के विचार व्यर्थ हैं क्योंकि ये सभी भेद पर आधारित हैं। पुनः, भेद का निषेध करने वाले अद्वैती व्यवहार में अभेद का अभाव मानते हैं या अन्य दशा में ? क्योंकि व्यवहार में अभेद असंभव है और व्यवहार से भिन्न दशा में तो भिन्न दशा ही अप्रसिद्ध है। व्यवहार से भिन्न दशा में घट-पट है ही नहीं। इस स्थिति में ऐक्य का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार अद्वैतमत में जब वस्तु है, तब ऐक्य नहीं है और जब ऐक्य है, तब वस्तु नहीं है। अतः भेद और अभेद दोनों मानना आवश्यक एवं तर्कसंगत है।[16]

दृश्यत्व युक्ति का खण्डन

अद्वैतियों ने 'नोसदासीत् नासदासीत्' इत्यादि श्रुति वाक्यों से सिद्ध किया है कि प्रपंच मिथ्या है और इस श्रुति की पुष्टि के लिए एक अनुमान का प्रयोग किया है। वह अनुमान है --

प्रपंच मिथ्या है,

क्योंकि प्रपंच प्रतीयमान होते हुए बाध्यमान है जैसे शुक्ति-रजत। वीरराघवाचार्य

---

१५. परमार्थभूषणम्, पृ० ३६२-६३

१६. वही, पृ० ३६३

के अनुसार यह अनुमान शून्यवादियों का है, अद्वैतियों का नहीं[१७]। इस अनुमान भंग का निरास शतदूषणीकार ने किया है। किन्तु शतभूषणीकार ने इस निरास का खण्डन करके अनुमान को उचित ठहराया है। पुनः, वीरराघवाचार्य ने शतभूषणीकार के मत का खण्डन करके शतदूषणी में उक्त अनुमान निरास को उचित बताया है।

शतभूषणीकार के मत में अद्वैती निर्विशेष वाक्यों को प्रबल और सविशेष वाक्यों को दुर्बल मानते हैं। विशिष्टाद्वैती सविशेष वाक्यों को प्रबल और निर्विशेष वाक्यों को दुर्बल मानते हैं। वीरराघवाचार्य का प्रश्न है कि क्या निर्विशेष वाक्य का प्राबल्य मानने वाले अद्वैती उन वाक्यों के वास्तविक अर्थ की व्याख्या करते हुए उनकी प्रबलता मानते हैं या अपने अनुसार उन वाक्यों का अर्थ करके प्रबलता मानते हैं? विशिष्टाद्वैती तो किसी भी श्रुतिवाक्य को दुर्बल नहीं मानते हैं। वे निर्विशेष श्रुति के वास्तविक अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। उनके मत में किसी भी श्रुति वाक्य का अर्थ बाधित नहीं है, अतएव अप्रामाण्य भी नहीं है। शतभूषणीकार प्रपंचमिथ्यात्व के प्रतिपादक कुछ श्रुति वाक्यों का उल्लेख करते हैं और मानते हैं कि उन श्रुति वाक्यों में उक्त अर्थ का प्रतिपादन करने पर उपरोक्त अनुमान दोषरहित सिद्ध हो जाता है। वीरराघवाचार्य का कहना है कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः', इस वाक्य में श्रवण के बाद मनन विहित है। यह श्रवण की प्रतिष्ठा के लिए ही विहित है। श्रवण मीमांसा ही है। विचार करके अर्थ का निर्णय करना मीमांसा है। जब तक यह अर्थ निर्णय नहीं हो जाता तब तक अनुमान उस श्रवण-प्रतिष्ठा में समर्थ नहीं हो सकता है[१८]। परन्तु अद्वैती

---

१७. 'तन्नूनं शून्यवादिकण्ठलग्नैव हेतुमालायाः प्रायोक्तुमारब्धेति युक्तं मन्तुमिति।' वही, पृ० २८२-८३

१८. 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणानन्तरं यन्मननं विहितम्--तन्नूनं श्रवण-प्रतिष्ठार्थम्। श्रवणं च मीमांसारूपमिति विचारपूर्वकार्थनिर्णये अनुत्पन्ने यदनुमानम्, न तत् श्रवणप्रतिष्ठार्थं भवितुमर्हति।' वही, पृ० २८२-८३

जिन्हें मिथ्यात्वप्रतिपादक वाक्य मानते हैं, उन वाक्यों का प्रयोग मिथ्यात्व के अर्थ में हुआ है या किसी अन्य अर्थ में, इस निर्णय के पश्चात ही अनुमान से मुख्यार्थ की पुष्टि हो सकती है और वह अनुमान भी दोषरहित हो सकता है । अतः अनुमान से प्रमाण-प्रतिष्ठा असंभव है । 'नेहनानास्ति' आदि वाक्यों का अर्थ अद्वैत सम्मत अर्थ नहीं है । अतः उक्त अनुमान प्रपंचमिथ्यात्व की सिद्धि में असमर्थ है ।[19]

पुनश्च, प्रपंचमिथ्यात्व की सिद्धि के लिए अद्वैतियों का अनुमान है, 'प्रपंचः मिथ्या दृश्यत्वात्' । इस अनुमान पर आक्षेप करते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि अनुमान में तीन अंग प्रधान होते हैं, पक्ष, साध्य और हेतु । इन तीनों में हेतु प्रधान होता है । हेतु को निर्दोष होना चाहिए । किन्तु उक्त अनुमान में दृश्यत्वरूप हेतु दोष युक्त है क्योंकि ब्रह्म में भी दृश्यत्वरूप हेतु है । अतः ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा । इस दोष से बचने के लिए अद्वैती दृश्यत्व में स्वाधिकरणान्यूनसत्ताकत्वरूप विशेषण देते हैं । ब्रह्म पारमार्थिक है । उसमें स्थित दृश्यत्व व्यावहारिक है । दृश्यत्व के पारमार्थिक न होने के कारण ब्रह्मन्यूनसत्तायुक्त दृश्यत्व ही वहां है । अतः ब्रह्म मिथ्या सिद्ध नहीं होता क्योंकि घट-पट आदि में स्वाधिकरणान्यूनसत्ताक दृश्यत्व है । अतः वह मिथ्या है । इस अद्वैत विचारधारा का खण्डन करते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि यहां सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि दृश्यत्व क्या है ? अद्वैती इस बात से सहमत हैं कि जीव के ज्ञान का विषय होना दृश्यत्व है । यह दृश्यत्व ब्रह्म में नहीं है । परन्तु यदि इस लक्षण से दोष का परिहार हो जाता है तो विशेषण का क्या प्रयोजन है ? पुनः, दृश्यत्व का तात्पर्य दर्शन का विषय होना है । इस प्रकार दृश्यत्व घटादि में भी उसके दर्शन काल में ही होता है अन्य काल में नहीं। अतः अधिकरण की सत्ता की अपेक्षा से दृश्यत्व की सत्ता प्रायः न्यून ही है । ऐसी स्थिति में प्रपंचन्यूनसत्ताकत्व दृश्यत्व में असंभव है ।[20]

---

१९. वही, पृ० २८२-८३

२०. वही, पृ० ३८५-८६

पुनश्च, प्रपंच शब्द से शुक्ति-रजत का ग्रहण होता है या नहीं ? उक्त अनुमान से शुक्ति-रजत में भी मिथ्यात्व सिद्ध होना चाहिए । किन्तु ऐसा करने पर न्यायशास्त्र में उक्त सिद्धसाधनदोष आ जायेगा । प्रत्यक्ष से सिद्ध अर्थ को अनुमान से सिद्ध करना सिद्धसाधन दोष है । पुनः, प्रपंच शब्द से ब्रह्म को लेने पर इस अनुमान से ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा । इन दोषों के परिहार में अद्वैती कह सकते हैं कि प्रपंच शब्द का अर्थ प्रातिभासिकपारमार्थिक-सत्ताशून्य है । शुक्तिरूप्यस्थल में प्रातिभासिक सत्ता है और ब्रह्म में पारमार्थिकसत्ता है । अतः यहाँ सिद्धसाधन और बाध दोष नहीं है । इसके उत्तर में वीर-राघवाचार्य का कहना है कि इस प्रकार की दो सत्तायें मानना उचित नहीं है । अतः पक्ष, प्रपंच असिद्ध है । अर्थात् अनुमान का पक्षदोषयुक्त है । प्रपंच में सत्ताशून्यत्व की सिद्धि अनुमान के पूर्व नहीं हो सकती है । सत्ताशून्य प्रपंचरूप पक्ष के असिद्ध होने पर अनुमान संभव नहीं है । अतः यह पक्ष शशविषाण की भाँति शून्य होगा । पुनः, अद्वैती कह सकते हैं कि चूंकि श्रुति से पक्ष सिद्ध है, अतः अनुमान करना उचित है । वीरराघवाचार्य का उत्तर है कि यदि श्रुति से पारमार्थिक-प्रातिभासिकसत्ताशून्य प्रपंच सिद्ध होता है तो अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं है[21]

पुनश्च, उक्त अनुमान में मिथ्यात्व साध्य अंश है । परन्तु प्रश्न है कि यह मिथ्यात्व प्रपंच की भाँति बाध्य है या अबाध्य ? बाध्य होने पर तो सत्य सिद्ध होगा क्योंकि मिथ्यात्व का अभाव सत्य है । फलतः प्रपंच सत्य सिद्ध हो जायेगा । इस समस्या के समाधान में अद्वैती कह सकते हैं कि मिथ्यात्व के बाध्य होने पर भी प्रपंच सत्य सिद्ध नहीं होगा क्योंकि बाध्यत्व भी प्रपंच के भीतर है । प्रपंच की भाँति बाध्यत्व का भी बाध होने के कारण प्रपंच सत्य नहीं हो सकता है । वीरराघवाचार्य प्रपंचबाध का अर्थ प्रपंचाभाव करते हैं । प्रपंचाभाव का बाध प्रपंच अभाव का अभाव है अर्थात् प्रपंच । अतः

---

२१. वही, पृ० ३८६-८७

इस स्थिति में प्रपंच का अपलाप नहीं किया जा सकता है।[22]

अद्वैतमतानुसार अविद्या-निवृत्ति ही मोक्ष है और वह नित्य है। यह मोक्ष ब्रह्म से भिन्न है। किन्तु जब अद्वैतमत में ब्रह्म से भिन्न सब कुछ मिथ्या है, तब अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष का ब्रह्म से भिन्न होने के कारण मोक्ष भी मिथ्या हो जायेगा। अर्थात् मोक्ष नित्य नहीं है। पुनः, यदि मिथ्यात्व को मोक्ष में न माना जाय तो दृश्यत्वरूप हेतु के रहने पर भी मिथ्यात्व-रूप साध्य के न मानने के कारण अनैकान्तिक दोष आ जायेगा। अद्वैती इस बात का निषेध नहीं कर सकते हैं कि मुक्ति में ज्ञानविषयत्व नहीं है। मुक्ति अनुमान से अवगत होने के कारण दृश्यत्व अवश्य है। यहाँ अद्वैतियों का उत्तर है कि वस्तु के विद्यमान रहने तक उसे ज्ञान का विषय होना आवश्यक है और उस स्थिति में ही मिथ्यात्व स्वीकार्य है। वीरराघवाचार्य का आक्षेप है कि ऐसा मानने पर तो घटपटादि भी मिथ्या सिद्ध नहीं होगा क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि जब तक घट रहे, उसका अनुभव होता रहे। अतः अन्यूनसत्ताकदृश्यत्व दोनों में नहीं है और इसलिए कोई भी पदार्थ मिथ्या नहीं है।[23]

पुनश्च, उक्त दृश्यत्वानुमान मिथ्या है या सत्य? यदि यह मिथ्या है तो यह प्रपंचमिथ्यात्वसाधन में असमर्थ है और यदि यह सत्य है तो जगत्-मिथ्या नहीं है। अद्वैतियों का कहना है कि दृश्यत्व में जो मिथ्यात्व है, वह दृश्यत्व के कारण नहीं है बल्कि दृश्यत्व के एक प्रमाण होने के कारण है और सभी प्रमाण प्रपंच के भीतर होने के कारण मिथ्या हैं। दृश्यत्व मिथ्या

---

२२. '.....प्रपंचाबाधो हि नाम प्रपंचाभावः। तदाधश्च प्रपंचाभावाभावः। स च प्रपंच एवेति कथं प्रपंचापलापः?' वही, पृ० ३८८

२३. वही, पृ० ३६०

है । यह दृश्यत्व दृश्यत्व होने के कारण नहीं वरन् प्रमाण होने के कारण मिथ्या है । इस मत का खण्डन करते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि यदि अपने विषय में दृश्यत्व मिथ्यात्व सिद्ध करने में असमर्थ है और अपने मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए प्रमाणरूप अन्य हेतु की अपेक्षा रखता है, तब अन्य वस्तुओं के मिथ्यात्वसाधन में यह असमर्थ होगा[२४]।

अद्वैतियों के अनुसार प्रत्यक्ष से प्रपंच सत्य प्रतीत होता है और अनुमान से मिथ्या । अर्थात् प्रत्यक्ष से जो प्रतीति हुई उसका बाध । प्रत्यक्ष के बाद अनुमान होने के कारण अनुमान अधिक प्रबल है क्योंकि वह प्रत्यक्ष से सिद्ध सत्यता को बाधित कर देता है । वीरराघवाचार्य का कहना है कि मिथ्यात्व अनुमान के बाद मिथ्यात्व के अभाव का अनुमान किया जा सकता है । अभाव अनुमान से मिथ्यात्व अनुमान बाधित हो जायेगा । किन्तु इस अभाव अनुमान से युक्त प्रत्यक्ष केवल मिथ्यात्व अनुमान को बाधित करेगा[२५]।

अतः दृश्यत्व-युक्ति से जगत्मिथ्यात्व की सिद्धि का प्रयास व्यर्थ है ।

<u>भावरूप अज्ञान की अनुपपत्ति:</u>

सभी शास्त्रकार ज्ञान और अज्ञान को परस्पर विरोधी मानते हैं । अद्वैतवेदान्त में अज्ञान भावरूप है किन्तु वह ज्ञानाभाव नहीं है । उनके मत में प्रत्यक्षप्रपंच भावरूप है । अज्ञान से प्रपंच की प्रतीति होती है । भावरूप प्रपंच की प्रतीति भावरूप कारण से ही सम्भव है । अतः अज्ञान भावरूप है । इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी अज्ञान की भावरूपता सिद्ध होती है । 'अहं अज्ञः', 'माम् अन्यं न जानामि' इस प्रकार की प्रत्यक्ष

---

२४. वही, पृ० ४०४-५

२५. वही, पृ० ४०५-६

प्रतीति सभी को होती है । यह मानसप्रत्यक्ष अज्ञान में प्रमाण है । इसी प्रकार अनुमान प्रमाण देते हुए अद्वैती कहते हैं कि प्रमाण ज्ञान के पूर्व एक वस्तु उस स्थान में विद्यमान रहती है जो उस प्रमाण से ज्ञातव्य विषय का आवरण करती है और उस प्रमाणज्ञान से ही निवृत्त होती है क्योंकि यह प्रमाणज्ञान अप्रकाशितार्थ प्रकाशक है, जैसे अन्धकार में प्रथमोत्पन्न दीपप्रभा[26]।

उपरोक्त मत का खण्डन करते हुए वीरराघवाचार्य का प्रश्न है कि अज्ञान को भावरूप मानने वाले अद्वैतियों का तात्पर्य क्या यह है कि प्रपंच में अभाव नहीं है या प्रकृत स्थल में जो अज्ञान है, वही भावरूप है ? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि घटाभावरूप अभाव की प्रतीति सभी को होती है । पुनः, अद्वैती 'सत्यज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' का अर्थ असत्य से भिन्न, जड़ से भिन्न, परिच्छिन्न से भिन्न करते हैं । परन्तु जब सत्य भाव है, ज्ञान भाव है, तब सत्य से भिन्न का अर्थ हुआ भाव से भिन्न और भाव से भिन्न अभाव ही हो सकता है । अतः घटाभाव को अद्वैती भाव नहीं कह सकते हैं । पुनः, दृश्यमान प्रपंच के अनादि होने के कारण अविद्या की भांति इसके कारण की आवश्यकता नहीं है । अर्थात् प्रपंच और अज्ञान में परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं है । अतः अज्ञान भावरूप नहीं है[27]।

पुनश्च, अद्वैतियों का अनुमानप्रमाण भी असंगत है । प्रत्यक्ष के अनुमान से अधिक शक्तिशाली होने के कारण अनुमान से अज्ञान को भावरूप सिद्ध करना ठीक नहीं है । 'अहं माम न जानामि' इस युक्ति से अनुमान का खण्डन हो सकता है । परन्तु प्रश्न है कि 'अहं माम न जानामि', इस प्रतीति में अहम् अर्थ प्रकाशित होता है या नहीं ? यदि प्रकाशित होता है तो अहम् रूपक ज्ञान से निवृत्त होने वाला अज्ञान अहम् की प्रतीति होते समय कैसे रह

----

२६. वही, पृ० ८०७

२७. वही, पृ० ८०७-८

सकता है और यदि अहम् अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, तब अज्ञान का अनुभव किसे होता है ? क्योंकि अज्ञान की प्रतीति के लिए किसी वस्तु का और किसी अनुभवकर्ता का होना अनिवार्य है । उसके अभाव में अज्ञान का अनुभव नहीं हो सकता है । तात्पर्य यह है कि भावरूप अज्ञान की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से असम्भव है[२८]।

पुनश्च, अद्वैतमत में अविद्या ब्रह्मस्वरूप का तिरोधान करती है । किन्तु प्रश्न है कि अज्ञान का अनुभव होने के पश्चात् तिरोधान होता है या तिरोधान होने के पश्चात् अज्ञान होता है ? तिरोधान के पूर्व शुद्धब्रह्म अज्ञान का अनुभव नहीं कर सकता है और यदि अज्ञान का अनुभव ब्रह्म को नहीं होता है तो तिरोधान नहीं हो सकता है । अत: यहां अन्योन्याश्रय-दोष आ जायेगा ।

इस प्रकार अज्ञान को किसी भी प्रमाण से भावरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता है ।

अविद्यास्वरूपानुपपत्ति

अविद्या के स्वरूप पर आपत्ति करते हुए विशिष्टाद्वैता-नुयायियों का प्रश्न है कि अविद्या का स्वरूप क्या है ? यह पारमार्थिक है या अपारमार्थिक ? यदि यह पारमार्थिक है तो अद्वैत नष्ट हो जायेगा और फिर तत्त्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति असंभव हो जायेगी । अत: अविद्या को अपारमार्थिक मानना ही अधिक उचित है । परन्तु अपारमार्थिक वस्तु के लिए कल्पक की आवश्यकता होती है । अद्वैतियों का कहना है कि अनादि होने के कारण अविद्या के लिए कल्पक की आवश्यकता नहीं है । केवल प्रतीति के लिए ही कल्पक की आवश्यकता है और प्रतीति मिथ्या है । इस पर आक्षेप करते

---

२८. वही, पृ० ८२४-२५

हुए शतदूषणीकार का कहना है कि यह मिथ्याभूत प्रतीति निर्दोष नहीं हो सकती है। अतः कल्पक के दोष की कल्पना आवश्यक है। यदि यह मान लिया जाय कि यह मिथ्याभूत प्रतीति निर्दोष हो सकती है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि प्रपंच निर्दोष है और प्रपंच के निर्दोष होने पर अविद्या की कोई आवश्यकता नहीं है।[२६]

शतदूषणीकार के मत का खण्डन करते हुए शतभूषणीकार का कहना है कि अविद्या एवं भ्रम जैसा नहीं है। यह अनिर्वचनीय अर्थात् सदसद् विलक्षण है। इसके लिए किसी उपादान की अपेक्षा नहीं है। किन्तु वीरराघवाचार्य का कहना है कि उपादान की अपेक्षा न होने पर भी अविद्यात्मकत्व की निष्पत्ति के लिए दोष की अपेक्षा अवश्य है क्योंकि भ्रम दोषजन्य होता है। अद्वैतियों के अनुसार अविद्या के लिए दोष की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस स्थिति में अविद्या-ज्ञान न तो भ्रम सिद्ध होगा और न अपारमार्थिक। उससे उत्पन्न प्रपंच भी अपारमार्थिक सिद्ध नहीं होगा। सब कुछ पारमार्थिक सिद्ध हो जायेगा। इसके उत्तर में अद्वैती कह सकते हैं कि पारमार्थिकत्व दो प्रकार का है- लौकिक और अलौकिक। अविद्या का लौकिकपारमार्थिकत्व मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु प्रश्न है कि लौकिक से भिन्न अलौकिक पारमार्थिकत्व क्या है? अद्वैतियों का उत्तर है कि ब्रह्म में विद्यमान पारमार्थिकत्व अलौकिक पारमार्थिकत्व है। इस प्रकार के पारमार्थिकत्व का प्रपंच में अभाव है। इसलिए इसे लौकिक पारमार्थिकत्व कहा जाता है। इस पर वीरराघवाचार्य का कहना है कि इस बात से सभी सहमत हैं कि जिस वस्तु में जिस प्रकार का पारमार्थिकत्व होता है, उस प्रकार का पारमार्थिकत्व अन्य वस्तु नहीं होता है। फिर इसमें नवीनता क्या है? अद्वैतियों का उत्तर है कि ब्रह्म में विद्यमान पारमार्थिकत्व और अविद्या में विद्यमान पारमार्थिकत्व में भेद है। ब्रह्म में विद्यमान पारमार्थिकत्व

---

२६. वही, पृ० ८४६ और शतदूषणी, पृ० १६६

कभी बाधित नहीं होता, जबकि प्रपंच में विद्यमान पारमार्थिकत्व ब्रह्मज्ञान से बाधित हो जाता है। परन्तु प्रश्न है कि बाध्यमानत्व क्या है ? क्या यह निवर्तमानत्व है अथवा अपनी प्रतीति-काल में भी अभाव है ? यदि निवर्तमानत्व बाध्यमानत्व है, तो यह पारमार्थिकत्व विरोधी नहीं है। जैसे भूतल में घट था, उसे तोड़ दिया गया। तोड़ने के बाद घट नष्ट हो गया। अर्थात् घट निवृत्त हो गया। फिर भी घट अपने पूर्ण आकार में अस्तित्व के समय पारमार्थिक ही था। इस प्रकार निवर्तमानत्व पारमार्थिकत्व विरोधी नहीं है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि इसे लौकिक पारमार्थिकत्व कहने का कोई औचित्य नहीं है। यह पारमार्थिकत्व भ्रम है। वास्तविक पारमार्थिकत्व इसमें नहीं है। पुनः, दोष के अभाव में भ्रम मानने पर अज्ञान को अस्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि अज्ञान दोष के रूप में प्रपंच का कारण है। अद्वैतियों का प्रश्न है कि अज्ञान के अभाव में प्रपंच का भ्रम कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में वीरराघवाचार्य का कहना है कि यदि एक भ्रम दूसरे भ्रम को उत्पन्न करता है और दूसरा तीसरे को और इस प्रकार भ्रम परम्परा से उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है तो अज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। अद्वैतियों का कहना है कि भ्रम परम्परा स्वीकार करने पर तो यह भ्रम सदा होता रहेगा और प्रपंच का उच्छेद असंभव हो जायेगा। इसके समाधान में वीरराघवाचार्य का कहना है कि अद्वैतवेदान्त में अज्ञान की निवृत्ति तत्वज्ञान से होती है और इस स्थिति में जिस तत्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, उसी तत्वज्ञान से साक्षात् प्रपंच की भी निवृत्ति हो जायेगी। उसके लिए अज्ञान की कल्पना की आवश्यकता नहीं है।[30]

अद्वैतियों का प्रश्न है कि अविद्या के अभाव में ब्रह्म प्रपंच का उपादान कारण कैसे हो सकता है ? वीरराघवाचार्य का उत्तर है कि अद्वैतमत में दूसरी अविद्या के अभाव में भी ब्रह्म प्रपंच-अध्यास का अधिष्ठान है

---

३०. वही, पृ० ८६-८८

और विशिष्टाद्वैत मत में अज्ञान के अभाव में भी ब्रह्म प्रपंच-अध्यास का अधिष्ठान हो सकता है । फिर, इससे भिन्न उपादानत्व क्या है ? अद्वैतियों के अनुसार आवरण के बिना अध्यास नहीं हो सकता है और इस आवरण के लिए अज्ञान की आवश्यकता है । इस पर वीरराघवाचार्य का कहना है कि निर्विशेषस्वप्रकाश-ब्रह्म का आवरण सम्भव नहीं है । शुक्ति-रजत स्थल में जिस दोष की अपेक्षा है, वह दोष पारमार्थिक है, अपारमार्थिक नहीं । अद्वैतियों द्वारा अज्ञान दोष को अपारमार्थिक मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं है ।[३१]

पुनश्च, यदि अविद्या दोष अपारमार्थिक है, तो प्रश्न है कि वह दोष क्या है ? क्या वह ज्ञान है ? अथवा ज्ञाता है ? अथवा ज्ञेय है ? यदि ज्ञान है तो वह सीमित है या असीमित ? और यदि असीमित है तो यह ज्ञान ब्रह्मस्वरूपात्मक ज्ञान है या उससे भिन्न ? ब्रह्मस्वरूपात्मक और अपारमार्थिक मानने पर तो ब्रह्मस्वरूप को भी अपारमार्थिक मानना पड़ेगा और तब माध्यमिक पक्ष को स्वीकार करना पड़ेगा । पुनः, सीमित मानना असंभव है क्योंकि किसी भी शास्त्रकार ने ज्ञान में इस प्रकार का भेद नहीं किया है । थोड़ी देर के लिए यदि इस प्रकार का भेद मान लिया जाय तो उसके अपारमार्थिक होने के कारण उसकी कल्पना के लिए एक अन्य दोष की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा । अविद्या मानने पर ये सारे दोष ज्ञाता अथवा ज्ञेय रूप में आ जाते हैं । पारमार्थिक मानने पर तो अद्वैत ही नष्ट हो जाता है और परमार्थभूत ब्रह्म को दोष मानने पर तो उस दोष से ही प्रपंच-दर्शन हो सकता है । अविद्या रूप अन्य दोष की कल्पना व्यर्थ है । पुनः, ब्रह्म को दोष मानने पर ब्रह्म की भांति यह दोष भी अनिवर्त्य हो जायेगा । परन्तु ब्रह्म दोष नहीं है । अतः दोष अपारमार्थिक नहीं है और दोष के अपारमार्थिक न होने पर अविद्या का स्वरूप निष्पन्न नहीं हो सकता है ।[३२]

----

३१. वही, पृ० ८४९-५०

३२. वही, पृ० ८५४-५५

ब्रह्माश्रय अज्ञान का खण्डन

सभी अद्वैतवेदान्ती इस बात से सहमत हैं कि ब्रह्म अज्ञान का विषय है । परन्तु अज्ञान के आश्रयत्व को लेकर उनमें मतभेद है । प्राचीन अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानते हैं जबकि ब्रह्मसिद्धि और भामती आदि ग्रन्थकार जीव को अज्ञान का आश्रय मानते हैं । शतदूषणीकार का कहना है कि ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि वह अज्ञान का अनुभव नहीं करता है । परन्तु अद्वैतियों का कहना है कि ब्रह्म अज्ञान का अनुभव करता है किन्तु उसमें ज्ञातृत्व नहीं है । ज्ञातृत्व मात्र अहंकार में है । अतः अज्ञान का आश्रय ब्रह्म हो सकता है[४४]। यहां कहा जा सकता है कि यदि ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है तो उसे ज्ञाता होना आवश्यक है । इस आपत्ति का खण्डन करते हुए अद्वैतियों का कहना है कि सुषुप्ति काल में जीव में ज्ञातृत्व का अभाव है । परन्तु यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि ज्ञातृत्व के अभाव में जीव भी अज्ञान का आश्रय नहीं है । परन्तु वह अज्ञान का आश्रय है । अतः ब्रह्म भी अज्ञान का आश्रय है । इस विचार का खण्डन करते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि अद्वैती ब्रह्म में ज्ञातृत्व का अभाव मानते हैं और जीव के दृष्टान्त में सुषुप्ति काल में ज्ञातृत्व का अभाव है । अतः यह दृष्टान्त विषम होने के कारण अनुपयुक्त है । पुनः, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि सुषुप्ति में अज्ञान रहता है । अद्वैतियों का उत्तर है कि प्रबुद्ध (सोकर उठने वाला व्यक्ति) का अनुभव ही जीव के अज्ञानाश्रयत्व का प्रमाण है । परन्तु प्रश्न है कि प्रबुद्ध कौन है ? यदि अद्वैती यह कहते हैं कि प्रबुद्ध अहंकाररूप असमर्थ है और वह सुषुप्ति काल में भी अपने

---

४४. 'तेनाज्ञानाद्यनुभवमेकतो ब्रह्मणि ब्रुवन्त एवान्यतो ज्ञातृत्वमहंकारगतमिति अज्ञातृत्वमेव ब्रह्मणि संगिरमाणाः अज्ञानाश्रयत्वं यस्मातिष्ठन्ते ।'

वही, पृ० ६२४-२५

अस्तित्व एवं अपने अज्ञान का स्मरण करता है, तो उस अहंकार का उस समय विलय कैसे होता है और यदि यह स्मरण अहंकार के अनुभाव में उस समय प्रमाण नहीं है तो फिर अज्ञान के अस्तित्व में प्रमाण कैसे हो सकता है ? श्रीरराघवाचार्य का कहना है कि ज्ञाता में ही अज्ञान हो सकता है, ऐसा मानने वालों का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान और अज्ञान दोनों एक ही काल में उसमें विद्यमान हैं क्योंकि ऐसा असंभव है । इस प्रकार ज्ञातृत्व का अभाव अज्ञानाश्रयत्व का विरोधी नहीं है । किन्तु ज्ञातृत्व की प्रसक्ति के अभाव में अज्ञान नहीं हो सकता है।[34]

अद्वैतियों के मत में जीव या अन्त:करण में विद्यमान ज्ञान से ब्रह्म का अज्ञान दूर होता है । इस मत से असहमत होते हुए श्रीरराघवाचार्य का कहना है कि लोक में देखा जाता है कि देवदत्त का अज्ञान देवदत्त के ही ज्ञान से दूर होता है, यज्ञदत्त के ज्ञान से नहीं । अत: जीवगत ज्ञान से ब्रह्मगत अज्ञान दूर नहीं हो सकता है।[35]

ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि वह स्वप्रकाश है, इस प्रकार का एक अनुमान ब्रह्म के अज्ञानाश्रयत्व के खण्डन में शतदूषणीकार ने दिया है । इसके उत्तर में शतभूषणीकार का कहना है कि स्वप्रकाश होने के कारण ही ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है । शतभूषणीकार के कथन से असहमत होते

---

34. 'अतश्च ज्ञातृत्वस्य कदाचिदभाव: अज्ञानाश्रयत्वस्य न प्रतिबन्धी । किन्तु ज्ञातृत्वप्रसक्त्यभाव एवेति ।' वही, पृ० ५१४-१५

35. 'अतो जगन्मिथ्यात्वादिनिरुक्तिन्यायेन तत्वज्ञाननिवर्त्यत्वस्याज्ञानमिथ्याज्ञानादौ व्यवस्थितत्वात् लोके च समानाधिकरणस्यैव एव निवर्त्यनिवर्तकभावदर्शनात् न जीवगतेनान्त:करणगतेन वा ज्ञानेन ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिसंभवत: ।' वही, पृ० ५१७

हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि स्वप्रकाशत्व अज्ञानाश्रयत्व की सिद्धि में हेतु नहीं हो सकता है क्योंकि उस स्थिति में शुक्ति में भी अज्ञान की संभावना है। अतः अद्वैतियों का कथन इस प्रकार होना चाहिए कि ब्रह्म स्वप्रकाश होने पर भी अज्ञान का आश्रय है। अद्वैती यहाँ कह सकते हैं कि स्वप्रकाश अज्ञान का विरोधी नहीं है बल्कि वृत्तिज्ञान अज्ञान का विरोधी है। इस पर वीरराघवाचार्य का प्रश्न है कि स्वरूपप्रकाश पूर्णरूप से अज्ञान का अनिवर्तक है या आंशिक रूप से? प्रथम विकल्प असम्भव है क्योंकि स्वरूपप्रकाश के समय में 'मैं नहीं हूं', ऐसा अज्ञान नहीं हो सकता है। द्वितीय विकल्प भी सम्भव नहीं है क्योंकि निरंश ब्रह्म में आंशिक अज्ञान नहीं माना जा सकता है। अतः ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं है।[36]

पुनश्च, शतदूषणीकार के अनुसार नित्यमुक्त होने के कारण भी ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है। इस पर शतभूषणीकार का कहना है कि अविद्या का आश्रय होना मात्र बन्धन नहीं है बल्कि अन्तःकरण के धर्मभूत सुखदुःखादि का आश्रय बन्धन है। यह बन्धन प्रतिबिम्बभूत जीव में है, ब्रह्म में नहीं। यह अनुभवगम्य है कि अविद्या का आश्रय होने पर भी जीव आनन्द का अनुभव करता है। इस मत का खण्डन करते हुए परमार्थभूषणकार का कहना है कि यह स्वीकार करना कठिन है कि सुषुप्ति में हमी आनन्द का अनुभव करते हैं। आनन्दानुभव में वृत्तिज्ञान की आवश्यकता है और सुषुप्ति में वृत्तिज्ञान का अभाव है। अतः अविद्याश्रयत्व को ही बन्धन कहा जा सकता है।[37] सुषुप्ति में जीव का अज्ञत्व और अज्ञानाश्रयत्व दोनों हैं और यदि इस प्रकार का बन्धन ब्रह्म में है, तो वह नित्यमुक्त नहीं है। यदि यह बन्धन ब्रह्म-व्यतिरिक्त किसी अन्य का है तो फिर प्रश्न है कि ब्रह्म-व्यतिरिक्त कौन है? ब्रह्म-व्यतिरिक्त अविद्या में स्थित प्रतिबिम्बरूप जीव में यह अविद्या है, ऐसा मानने पर तो दोष उत्पन्न

----

३६. वही, पृ० ५१८-१९

३७. वही, पृ० ५२०-२२

हो जाता है और अन्त:करण अवच्छिन्न चैतन्य ही जीव है, ऐसा मानने पर प्रलय में अन्त:करण के अभाव के कारण जीव हानि का प्रसंग आ जाता है और उस स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है । अविद्याश्रयत्व होने के कारण ब्रह्म नित्यमुक्त नहीं होगा । अद्वैतियों का कहना है कि अन्त:करणविशिष्ट ब्रह्म शुद्ध ब्रह्म से भिन्न है । शुद्धब्रह्म नित्यमुक्त है, विशिष्ट ब्रह्म बद्ध है । यहाँ वीरराघवाचार्य का कहना है कि देवदत्त द्वारा पूर्व जन्म में किए हुए कर्म का फल इस जन्म में यज्ञदत्त के रूप में उत्पन्न होकर भोगना पड़ता है । परन्तु अद्वैतियों के उपरोक्त मत को मानने पर यह सम्भव नहीं होगा क्योंकि कर्ता देवदत्त भोक्ता देवदत्त से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार शुद्धब्रह्म विशिष्टब्रह्म से भिन्न है[३८] ।

पुनश्च, वीरराघवाचार्य की अन्तिम आपत्ति है कि जब अद्वैती शुद्ध चैतन्य में अविद्याश्रयत्व मानते हैं, तब उस आश्रयत्व का स्वरूप क्या है ? विशिष्टाद्वैतियों की भांति अद्वैती नियंतृत्व नहीं मानते हैं । शुद्ध ब्रह्म में नियंतृत्व न होने के कारण वे ईश्वर में ही नियंतृत्व मान सकते हैं । संयोगादि भी आश्रयत्व नहीं हो सकता है क्योंकि अविद्या मिथ्याभूत है और ब्रह्म सत्यभूत । मिथ्या और सत्य वस्तुओं का संयोग सम्भव नहीं है[३९] । अत: किसी भी रूप में ब्रह्म अविद्या का आश्रय नहीं है ।

माया-अविद्या

अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म को नित्यमुक्त शुद्धचैतन्य कहा गया है । उपाधि-सम्बन्ध से ईश्वर और जीव में विभाग सम्भव होता है । परन्तु एक ही उपाधि से दोनों को सिद्ध करना कठिन है । ईश्वर विभाग मायारूप उपाधि के कारण है जबकि जीव विभाग अविद्यारूप उपाधि के कारण । माया से महाभूत

---

३८ वही, पृ० ५२०-२२

३९ वही, पृ० ५२५

भौतिक जगत् की सृष्टि होती है और अविद्या से सूक्ष्मभूत एवं उसके कार्य अन्त:करण की सृष्टि होती है । किन्तु इस स्थिति में भी यह नहीं कहा जा सकता है कि माया और अविद्या में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है । जीव के कार्यरूप सूक्ष्म-भूतों से अन्त:करण आदि के उत्पादन के लिए ईश्वर के कार्यरूप महाभूत का आश्रय आवश्यक है । परन्तु माया-अविद्या में भेद करने वाले अद्वैतियों के अनुसार अन्त:-करण आदि की उत्पत्ति के लिए महाभूतों के आश्रय की आवश्यकता नहीं है । अभेदवादियों में कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अन्त:करण उस माया का कार्य है । अर्थात् कारण उपाधि ईश्वर है और कार्य उपाधि जीव है । कुछ अन्य अभेदवादियों का कहना है कि त्रिगुणात्मिकामूलप्रकृति एक है, माया और अविद्या उसके दो रूप हैं । रजस् और तमस् गुणों से अप्रभावित शुद्धसत्त्व माया है, ईश्वर उसका प्रतिबिम्ब है । रजस् और तमस् गुणों से प्रभावित अविद्या है, जीव उसका प्रतिबिम्ब है । अविद्या में सत्वगुण मलिनरूप में रहता है । पुन:, कुछ अन्य अद्वैतियों के अनुसार जीव के अनेक होने के कारण जीवाश्रित अविद्या भी अनेक है । ईश्वराश्रित माया प्रपंच का कारण है और वह एक ही है । कुछ अद्वैती माया को अनेक अविद्याओं से अभिन्न मानते हैं । माया-अविद्या के स्वरूप का निरूपण करते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि इन दोनों के भेद का खण्डन तो अद्वैतियों ने स्वयं कर दिया है ।[40]

पुनश्च, शुक्ति में रजत की भांति अविद्या के कारण जीवों में यह भ्रम उत्पन्न होता है कि अविद्यमान प्रपंच ब्रह्म में विद्यमान है और इसी प्रकार ईश्वर में यह भ्रम होता है कि अविद्यमान प्रपंच ब्रह्म में विद्यमान है और वह इसका आधार एवं नियंता है । ईश्वर के इस भ्रम का कारण माया ही है । यहां स्पष्ट है कि अविद्या की भांति माया भी अपने आश्रय को भ्रान्त बना देती है ।

---

४०. '....अद्वैतिसंमतमायाऽविद्याविभागप्रकारोऽनुपपन्नश्चाद्वैतस्यैव बाधकत्वात् ।'
वही, पृ० ८५८-५९

अत: भ्रान्ति उत्पन्न करना अविद्या एवं माया दोनों का कार्य है । परन्तु एक कार्य का कारण एक ही हो सकता है, दो नहीं । पुन:, अद्वैतियों का कहना है कि अविद्या अपने आश्रय में मोह उत्पन्न करती है, जबकि माया में इस गुण का अभाव है । इस प्रकार दोनों के कार्य में भेद होने के कारण दोनों भिन्न-भिन्न हैं । परन्तु वीरराघवाचार्य का कहना है कि माया और अविद्या में इस प्रकार का विभाग करने वाले अद्वैती ईश्वर को भी भ्रान्त मानते हैं । उस भ्रान्ति का करण ईश्वर में विद्यमान माया है । परन्तु यदि माया और अविद्या दोनों का कार्य भ्रम उत्पन्न करना है तो उनमें विभाग सम्भव नहीं है।[४१]

अत: माया और अविद्या का विभाग किसी प्रकार संभव नहीं है ।

जीवाश्रय अज्ञान का खण्डन

अद्वैतवेदान्ती अविद्या का आश्रय जीव या ब्रह्म या उभय मानते हैं । अविद्या जीवाश्रित है, इस पक्ष का खण्डन करते हुए वीरराघवाचार्य का प्रश्न है कि जीव का स्वरूप क्या है ? वह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है ? अथवा उपाधि से अवच्छिन्न है ? अथवा कल्पित आकार से युक्त विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप है ? प्रथम पक्ष स्वयं अधिकांश अद्वैती नहीं मानते हैं और द्वितीय पक्ष प्रथम पक्ष का ही कुछ विकसित रूप है । अद्वैती बन्धन, मोक्ष आदि की सिद्धि के लिए अनेक अविद्या मानते हैं । ये अविद्यायें अनेक जीवाश्रित हैं । जीवाश्रितत्व का अर्थ अद्वैती, कल्पित आकारविशिष्ट जीवस्वरूप में आश्रित होना, करते हैं।[४२] परन्तु प्रश्न है कि जीव क्या है ? अद्वैतियों के अनुसार कल्पिताकार विशिष्ट

---

४१. वही, पृ० ८४०-८१

४२. 'कल्पिताकारविशिष्टजीवस्वरूपाश्रितत्वमेव जीवाश्रितत्वमिति ।'
वही, पृ० ८३३-३४

ब्रह्मस्वरूप जीव है और उस जीव पर अविद्या आश्रित है। वीरराघवाचार्य का कहना है कि अद्वैतियों के इस कथन का तात्पर्य यही निकलता है कि ब्रह्म का विशिष्टस्वरूप अविद्या का आश्रय है। उक्त कथन में एक विशेषण है और एक विशेष्य। पुनः, प्रश्न है कि अविद्या विशेषण पर आश्रित है या विशेष्य पर या दोनों पर? विशेषण और विशेष्य दोनों के आश्रित मानने पर, जीवाश्रितत्व पक्ष तथा ब्रह्माश्रितत्व पक्ष में जो दोष उद्भावित होगा उसमें उसका समावेश हो जायेगा। यदि एक पर आश्रित माना जाय तो भी उक्त दोष से छुटकारा नहीं मिल सकता है। यहां अद्वैती कह सकते हैं कि विशिष्ट शुद्ध से भिन्न है। अतः अविद्याओं का पृथक्-पृथक् आश्रय सिद्ध है। वीरराघवाचार्य का आक्षेप है कि यदि विशिष्ट शुद्ध से भिन्न है तो वह मिथ्या और जड़ सिद्ध होगा और इस पक्ष में स्वरूपनाश ही मोक्ष सिद्ध होगा। फिर, 'तत्त्वमसि' महावाक्य से स्वरूपैक्यरूप मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार जीवब्रह्मैक्य मानने पर ब्रह्मस्वरूप में ही अविद्यासम्बन्ध, अविद्या से मुक्त जीवसम्बन्ध सब मानना पड़ेगा[43]। पुनः, अनन्तजीव मानने पर प्रपंच की अनन्तता भी माननी पड़ेगी। इन आपत्तियों के समाधान में अद्वैती कह सकते हैं कि अद्वैतमत में प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म है, अविद्या नहीं। अविद्या सहकारीकारण मात्र है। अतः अनेक अविद्यासहित एक उपादान ब्रह्म से एक ही प्रपंच उत्पन्न होता है। वीरराघवाचार्य की यह आपत्ति है कि यदि सर्व अविद्याकल्पित प्रपंच एक है तो जैसे एक जीव की मुक्ति से उस जीव की अविद्या की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार उस अविद्या का कार्यभूत

---

४३. 'विशिष्टस्यातिरिक्तत्वे मिथ्यात्वं जडत्वं बाध्यत्वं च स्यादिति स्वरूपोच्छित्तिरेव मोक्षः स्यात्। तत्त्वमसीत्यस्य स्वरूपैक्यप्रतिपादकत्वमपि हीयते। जीवब्रह्मैक्ये तु संबन्ध्यमाने ब्रह्मस्वरूपे अविद्यासंबन्धः आविद्यकसंबन्धश्च अप्यनुषक्तो भवति।' वही, पृ० ८३-८४

प्रपंच भी निवृत्त हो जायेगा और उस स्थिति में किसी को भी प्रपंच का अनुभव नहीं होगा[४४]। इस समस्या के समाधान में अद्वैती कह सकते हैं कि एक ही अविद्या की निवृत्ति होती है, अन्य अविद्यायें विद्यमान रहती हैं और वे सब मिलकर दूसरे प्रपंच की उत्पत्ति करती हैं। वीरराघवाचार्य कहते हैं कि उस स्थिति में प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न प्रपंच तथा असंख्य प्रपंच मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। पुनः, इस पर अद्वैती कहते हैं कि एक जीव के मुक्त होने पर केवल उस जीव की अविद्या मात्र की निवृत्ति होती है, प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती। वीरराघवाचार्य का कहना है कि यद्यपि मुक्त अपने अविद्या के नष्ट होने के कारण अविद्या का अनुभव नहीं करता है, तथापि प्रपंच के विद्यमान होने के कारण उसका अनुभव वह अवश्य करेगा और तब सभी अविद्याओं की निवृत्ति होने पर भी प्रपंच का अस्तित्व बना रहेगा। अद्वैती कहते हैं कि ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है, यह ज्ञान होने पर प्रपंच की निवृत्ति अवश्य होगी। वीरराघवाचार्य का उत्तर है कि प्रथम जो जीव मुक्त हुआ उसको ब्रह्म-व्यतिरिक्त सब मिथ्या का ज्ञान था। इसका अर्थ यह हुआ कि जब प्रथम जीव मुक्त हुआ तब उसी समय प्रपंच का नाश होने के कारण अन्य लोगों को प्रपंच का अनुभव नहीं होना चाहिए था[४५]। अतः उपरोक्त कारणों के विद्यमान रहने पर अविद्या को जीवाश्रित नहीं माना जा सकता है।

पुनश्च, अद्वैतवेदान्त में अविद्या को अनादि माना गया है और साथ ही उसे मिथ्या भी कहा गया है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि मिथ्याभूत कोई भी वस्तु अनादि नहीं हो सकती है। शुक्ति में जिस रजत का

----

४४. 'सर्वाविद्याकल्पितस्य प्रपंचस्यैकत्वे एकजीवमुक्तौ तदविद्याया इव तत्कार्य-प्रपंचस्यापि निवृत्तौ सर्वेषां प्रपंचानुभवाभावप्रसंगात्।'

वही, पृ० ८३३-३४

४५. वही, पृ० ८३३-३४

अनुभव होता है, वह मिथ्या है । किन्तु इस रजत का अनुभव कल्पना के पश्चात होता है । तात्पर्य यह है कि कल्पना के पूर्व यह मिथ्याभूत रजत अविद्यमान था। अत: यह सादि है । इसी प्रकार कल्पित अविद्या भी सादि ही सिद्ध होगी, अनादि नहीं[४६]।

पुनश्च, श्रीराघवाचार्य के अनुसार हम जीव और हमारी अविद्या सब ब्रह्म की कल्पना के विषय हैं । यह अविद्या ब्रह्म में तत्वसाक्षात्कार होने पर दूर होती है । हमारे साक्षात्कार होने पर अविद्या दूर नहीं होगी क्योंकि शुक्ति में रजतभ्रम जिसको हुआ है, उसी को शुक्ति रूप तत्वज्ञान होने पर रजतभ्रम दूर होगा । अन्य के ज्ञान से अन्य का अज्ञान दूर नहीं होगा । यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि ईश्वर के ज्ञान से हमारी अविद्या दूर हो सकती है तो वह ईश्वर परमानन्दतृप्त एवं पापक्लेश आदि से दूर होने के कारण अविद्या की निवृत्ति के लिए प्रयत्न नहीं करेगा और तब हमको सदैव प्रपंच में ही रहना पड़ेगा । इस प्रकार अविद्या का स्वरूप ठीक प्रकार से निष्पन्न नहीं होगा । अत: वह जीवाश्रित नहीं हो सकती है[४७]।

तिरोधानानुपपत्ति

बादरायण के ब्रह्मसूत्र के अनुसार तिरोधान परमपुरुष के संकल्प से होता है[४८]। प्रपंच का कारणभूत तिरोधान प्रपंच की उत्पत्ति, लय आदि से भिन्न कुछ नहीं है । अद्वैतवाद में तिरोधान के बाद संकल्प का स्थान है क्योंकि निर्गुण एवं निर्विशेष ब्रह्म अज्ञान से तिरोहित होने पर ईश्वर के रूप में प्रकट होकर संकल्प करता है । अत: आवरण के बाद जीवेश्वर भेद की कल्पना

---

४६. वही, पृ० ८३७-३८

४७. वही, पृ० ८४४

४८. 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।' वही, पृ० ७३८

है । परन्तु विशिष्टाद्वैतमत में उपरोक्त कथन सूत्रकार के अभिप्राय के विरुद्ध है क्योंकि तिरोधान कर्मरूप अविद्या से आच्छादित होना है और इस स्थिति में ब्रह्म का अज्ञानरूप अविद्या से तिरोहित होना असम्भव है । परमपुरुष के संकल्प से भिन्न जीवज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है । अत: अद्वैतियों का यह कथन स्वयं सूत्रकार से ही विरुद्ध है।[४९]

पुनश्च, अद्वैतियों के अनुसार तिरोधान का अर्थ पूर्ण नाश नहीं है । अर्थात् ब्रह्म है परन्तु वह परिपूर्ण ब्रह्म नहीं है । वीरराघवाचार्य का कहना है कि ब्रह्म शब्द का अर्थ केवल व्यक्ति नहीं है बल्कि बृहद् गुणों से युक्त व्यक्ति है । इस स्थिति में प्रश्न है कि परिपूर्ण ब्रह्म का क्या अर्थ है ? क्योंकि अद्वैती ब्रह्म को निर्विमान मानते हैं । निर्विमान ब्रह्म में पूर्णत्व अपूर्णत्व का प्रश्न ही नहीं है और यदि ब्रह्म परिपूर्ण है तो उसका प्रकाश कब होगा ? मुक्ति में उसका प्रकाश नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म सदा प्रकाशस्वरूप है । फिर, इस ब्रह्म में अब जो सदा प्रकाशमान आकार है, उससे भिन्न अन्य कौन सा आकार मुक्ति में प्रकाशित होता है जिसके कारण इस समय व उसमें अपूर्णता है । प्रकाश और अप्रकाश विरुद्ध धर्मात्मक होने के कारण ब्रह्म में नहीं रह सकते हैं । अत: ब्रह्म में अप्रकाश कभी भी सम्भव नहीं है । और जब अप्रकाश ही असंभव है तब अप्रकाश का हेतुभूत आवरण या तिरोधान कैसे संभव है ? इस मत का खण्डन करते हुए चंद्रिकाकार की मान्यता है कि अनुभव द्वारा ऐसा संभव है।[५०] इस मत पर आपत्ति करते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि प्रकाश और अप्रकाश, दोनों को मानने वाले अद्वैतियों को अस्ति, नास्ति कहने वाले जैनियों की मान्यता को

---

४९. वही, पृ० ७३८

५०. 'चन्द्रिकाकारस्तु अध्यासभाष्यदर्शितपरिहाराभासमात्रमेव मन्दिमेत्यनेन, अनुभवबलेन स्वीकर्तव्यमिति विवादितं मन्यते ।' वही, पृ० ७३६-४०

स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[५१]

पुनश्च, अज्ञान की प्रतीति ज्ञान के से होती है या स्वत: होती है ? यदि स्वत: होती है तो वह अज्ञान नहीं है । यदि ज्ञान से होती है तो जहाँ ज्ञान रहेगा वहाँ अज्ञान भी अवश्य रहेगा । अत: ज्ञानरूप मोक्ष में अज्ञान अवश्य रहेगा।[५२]

पुनश्च, ब्रह्म अधिष्ठान है, वह अज्ञान के कारण उसका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित नहीं होता और अविद्यमान सत्, चित्, आनन्द आदि तात्त्विक धर्मों का अध्यास होता है । यही तिरोधान है । परन्तु अद्वैतियों का यह मत अयुक्त है । अध्यास तिरोधान नहीं है । अध्यास तिरोधान का कार्य है । अत: यथात्म्य अर्थात् वास्तविकस्वरूप का अप्रकाश तिरोधान है । परन्तु अद्वैतमत में अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न कोई वास्तविक धर्म निर्विशेष में नहीं हो सकता है । अधिष्ठान ब्रह्म के स्वप्रकाश होने के कारण और उसमें अप्रकाश के लिए स्थान न होने के कारण तिरोधान असंभव है।[५३]

पुनश्च, अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्मविषयक वृत्तिज्ञान का प्रतिबन्ध ब्रह्मतिरोधान है।[५४] वीरराघवाचार्य का कहना है कि वृत्तिज्ञान अज्ञान है । जो जिसका कारण है, वह उसका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है । अज्ञान को वृत्तिज्ञान का प्रतिबन्धक मानने का परिणाम यह होगा कि जब तक अज्ञान रहेगा, वृत्तिज्ञान उत्पन्न नहीं होगा और फिर उसकी निवृत्ति नहीं होगी ।

----

५१. 'भावाभावयोर्विरुद्धयोरपि यदि स्वीकार:, किमपराद्धं जैनैस्तदनुयायिभिश्च भास्कराचार्यादिभि: ।' वही, पृ० ७३६-४०

५२. वही, पृ० ७४१

५३. 'अधिष्ठाने ब्रह्मणि स्वयम्प्रकाशमाने अप्रकाशाभावात् कुतस्तिरोधानम् ?' वही, पृ० ७४२-४३

५४ वही, पृ० ७४४

इस समस्या के समाधान के लिए अद्वैती कह सकते हैं कि वेदान्तवाक्य के श्रवण पर्यन्त ही अज्ञान वृत्तिज्ञान का प्रतिबन्ध करता है । इस पर वीरराघवाचार्य कहते हैं कि उस स्थिति में श्रवणरूप कारण के अभाव में वृत्तिज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसा मानना चाहिए । पुनः, अज्ञान को वृत्तिज्ञान का प्रतिबन्धक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । कर्मविशेष को ही तिरोधान मानना अधिक उचित है[५५]। लोक में ज्ञान-सामग्री का विघटन करना तिरोधान माना जाता है[५६]। परन्तु इस प्रकार ज्ञान-सामग्री का विघटनरूप तिरोधान ब्रह्म में नहीं माना जा सकता है । अनादि अविद्या से युक्त ब्रह्म के अन्तःकरण आदि की उत्पत्ति के पूर्व ज्ञान सामग्री के अभाव के कारण उसका विघटन नहीं हो सकता है । यदि अविद्या की भाँति अविद्यावृत्ति को भी अद्वैती अनादि मान लें, तब जीव, ईश्वर आदि छः अनादि पदार्थों के साथ अविद्यावृत्ति सातवां पदार्थ भी मानना पड़ेगा[५७]।

पुनश्च, अज्ञान की सिद्धि संभव नहीं है क्योंकि इसकी सिद्धि के लिए एक और अज्ञान की कल्पना की आवश्यकता है । स्वयं स्वप्रकाशक मानने पर घटादि भी स्वयमेव स्वप्रकाशक हो जायेंगे । अतः वहां अज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ेगी[५८]।

पुनश्च, अद्वैतियों के मत में अविद्या की कल्पना में इस प्रकार की अनेक अनुपपत्तियों के होने पर भी यह अनुपपत्ति तो अविद्या का भूषण ही है । वीरराघवाचार्य का कहना है कि उस स्थिति में तो जो जो अनुपपन्न

---

५५. 'तिरोधायकत्वं कर्मविशेषाणामेव स्वीकर्तुमुचितम् ।' वही, पृ० ७४४

५६. वही,पृ०७४४ 'ज्ञानसामग्रीविघटकत्वमेव च लोकदृष्टं तिरोधायकत्वम् ।' वही, पृ० ७४४

५७. वही, पृ० ७४४

५८. वही, पृ० ७४४

प्रतीत होगा यदि वह सब भूषण ही है तो दूर्घटता के अनुपपन्न होने पर भी उसे भूषण ही मानना चाहिए । इस पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए[५६]।

अतः उपर्युक्त दोषों के विद्यमान रहने पर भ्रम का तिरोधान असंभव है ।

निवर्तकानुपपत्ति

वीरराघवाचार्य का कहना है कि अद्वैतमत में प्रपंच के मिथ्या होने के कारण उसके निवर्तक की खोज करना व्यर्थ है । परन्तु अद्वैतियों का कहना है कि प्रपंच के मिथ्यात्व का ज्ञान होने के कारण ही निवर्तकान्वेषण की आवश्यकता है । वीरराघवाचार्य का आक्षेप है कि लोक में रज्जु-सर्प भ्रम में सर्पज्ञान का निवर्तक रज्जु तत्वज्ञान है । परन्तु प्रपंच का मिथ्यात्वज्ञान इस प्रकार का नहीं है । उसके निवर्तक तत्वज्ञान का निर्धारण नहीं हो सकता है । अद्वैतियों का समाधान है कि शास्त्रों द्वारा प्रपंचमिथ्यात्व का ज्ञान होता है । किन्तु इस ज्ञान के हो जाने पर भी प्रपंच-भ्रम अनिवृत्त रहता है और इसलिए उसके निवर्तक की आवश्यकता है । वीरराघवाचार्य के अनुसार अद्वैतियों के उक्त कथन का तात्पर्य यही हो सकता है कि प्रपंचमिथ्यात्वज्ञान में दृढ़ता नहीं है । अद्वैती कह सकते हैं कि प्रपंचमिथ्यात्व ज्ञान में दृढ़ता होने पर भी तापत्रय से पीड़ित होने के कारण प्रपंचनिवृत्ति की आकांक्षा होती है । परन्तु यहां प्रश्न है कि पीड़ा में मिथ्याज्ञान है या नहीं ? पीड़ा के सत्य होने पर रज्जु-सर्प से भ्रान्त पुरुष को सर्पदंश की भ्रान्ति के कारण शरीर में शिथिलता आने पर विष को दूर करने के उपाय खोजने की भांति यह भी उचित होगा । यहां सर्प और उसका दंश दोनों के

---

५६. 'एवंच यत्र यत्र यद्यत् अनुपपन्नमिव लक्ष्यते, तत्र तत्र दुर्घटत्वं भूषणमेवेति यथादृष्टं सर्वं तथैव स्वीकार्यमिति क्वचिदपि दूर्षणा सिद्धान्तप्रवर्तनमेव न स्यात् ।'

वही, पृ० ७४४-४५

असत्य होने पर भी उसका भ्रम सत्य है । उस भ्रम से शरीर में वास्तविक विकार उत्पन्न होते हैं । अतः उस विकार के परिहार के लिए प्रयास उचित है । परन्तु प्रपंच में तापत्रय को अवास्तविक (मिथ्या) मानने के कारण उसके निवर्तन का प्रयास उचित नहीं है । अतः दोष जन्य भ्रम, भ्रम का आश्रय पुरुष, इन सब के सत्य होने के कारण उपर्युक्त दृष्टान्त में उसकी निवृत्ति की अपेक्षा है । परन्तु प्रपंच में ऐसा कुछ भी नहीं है । अतः निवर्तक की अपेक्षा नहीं है ।[६०]

परन्तु इस परिस्थिति में निवर्तक की अपेक्षा करने वाले अद्वैती अनिवर्तक को ही निवर्तक मानते हैं ।[६१] प्रश्न है कि यह अनिवर्तक ज्ञान क्या है ? क्या यह ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है ? अथवा जगन्मिथ्यात्व का ज्ञान है ? अथवा अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान है ? अथवा अखण्डब्रह्म का ज्ञान है ? प्रथम तीन ज्ञानों में तो मिथ्या पदार्थ भी समाविष्ट है । अतः वह तत्वज्ञान नहीं है और इसलिए वह निवर्तक भी नहीं है । ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान में यद्यपि ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान होता है किन्तु वहां जगन्मिथ्यात्व का प्रश्न ही नहीं है । अतः अविद्यानिवृत्ति का भी प्रश्न नहीं है और अविद्यानिवृत्ति न होने के कारण प्रपंचनिवृत्ति भी संभव नहीं है । अतः 'अहं ब्रह्मास्मि', यह ऐक्य ज्ञान मुक्ति का हेतु नहीं है । द्वितीय विकल्प, जगन्मिथ्यात्व का ज्ञान भी निवर्तक नहीं है क्योंकि प्रपंचमिथ्यात्व का ज्ञान होने पर उसके कारणभूत अविद्यानिवृत्ति न होने से मुक्ति संभव नहीं है । तृतीय विकल्प का ज्ञान भी निवर्तक नहीं है क्योंकि इस ज्ञान में ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य के शेष न रहने के कारण सर्वमुक्ति की संभावना है । चतुर्थ विकल्प का ज्ञान भी निवर्तक नहीं है क्योंकि अखण्डब्रह्म के ज्ञान में केवल ब्रह्म ही विषय होता है, अविद्या आदि नहीं । इस प्रकार चारों विकल्पों के असंभव होने से

---

६०. वही, पृ० ८६५

६१. 'एवमपि निवर्तकमपेक्षमाणाः अनिवर्तकमेव निवर्तकं मन्यन्त इत्यपि निवर्तकानुपपत्तिरेव ।' वही, पृ० ८६५

कारण कोई भी अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता है।[62]

अन्तिम प्रश्न है कि जगन्मिथ्यात्वज्ञान का स्वरूप क्या है? विशेषकाल में जगत् नहीं है, यह ज्ञान मिथ्यात्व का साधक नहीं हो सकता है। अतः सर्वदा जगत् नहीं है, यह ज्ञान ही मिथ्यात्व ज्ञान का तात्पर्य है। परन्तु यह भी मिथ्यात्व का साधक नहीं है। जल में सर्वदा गन्ध नहीं है, इस कथन से गन्ध का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता है। एकत्र स्थित वस्तु का अन्यत्र सभी कालों में अभाव तो सभी मानते हैं। यह भी कहना उचित नहीं है कि जगत् यहां है और वहां नहीं है। जगत् के अभावकाल में देश का भी अभाव है। अतः जगन्मिथ्यात्वज्ञान का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। अतः यह अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता है।[63]

निवृत्त्यनुपपत्ति

अद्वैतियों के मत में अविद्यानिवृत्ति एक पदार्थ है। पदार्थ पांच प्रकार के हैं - सत्, असत्, सदसद्विलक्षण, सदसद्, न सदसद्। कुछ अद्वैती अविद्यानिवृत्ति को पंचम प्रकार का मानते हैं। वीरराघवाचार्य का कहना है कि अविद्यानिवृत्ति को पंचम प्रकार का मानना अनुचित है क्योंकि यह तो सभी अद्वैती मानते हैं कि ब्रह्म सत् है, शशशृंग असत् है और अविद्या सदसद्विलक्षण है। अविद्या-निवृत्ति को सदसद् रूप मानने वालों की संख्या नगण्य है। विरुद्धधर्मात्मक होने के कारण यह अमान्य है और तब उस स्थिति में सदसद्विलक्षणात्व रूप में न सदसद्, इस प्रकार अविद्यानिवृत्ति का निरूपण करना समीचीन नहीं है। वस्तुतः चतुर्थ प्रकार भी ठीक नहीं है। यह तो असत् की ही श्रेणी में आ सकता है और अविद्यानिवृत्ति असत् का ही एक प्रकार है।[64]

---

६२. वही, पृ० ८६६

६३. वही, पृ० ८७२-७३

६४. वही, पृ० ८७८

पुनश्च, अद्वैतवेदान्त में अज्ञान को अनादि और उसके कार्यभूत प्रपंच को सादि कहा गया है और इस प्रकार विषमता होने के कारण इन दोनों को सदसद्विलक्षण माना गया है । वीरराघवाचार्य का कहना है कि अद्वैतियों के लिए यही उचित है कि वे अविद्यानिवृत्ति को भी सदसद्विलक्षण मान लें । इसके उत्तर में अद्वैती कह सकते हैं कि इस प्रकार मानने पर अविद्या को भी ज्ञान से निवर्त्य मानना पड़ेगा और उस स्थिति में अविद्यानिवृत्ति की निवृत्ति का तात्पर्य अविद्या ही होगी और तब अविद्या कभी निवृत्त नहीं हो सकेगी । अतः अविद्यानिवृत्ति को पंचम प्रकार का मानना उचित है । अद्वैतियों के इस मत से असहमत होते हुए वीरराघवाचार्य का कहना है कि पंचम प्रकार कुछ नहीं है । अपने वांछित फल की सिद्धि न होने पर अन्य शास्त्रकारों से अनभिमत मार्ग पर चलना अनुचित है । अर्थात् अविद्यानिवृत्ति को पंचम प्रकार का मानना अनुचित है ।

पुनश्च, वीरराघवाचार्य के मत में अविद्यानिवृत्ति का अनुभव करने वाले पुरुष के अभाव में अविद्यानिवृत्ति मानने योग्य नहीं है । अतः अविद्या निवृत्ति कभी न हो सकने के कारण अभाव का प्रतियोगी भी यह नहीं हो सकती है । अर्थात् अविद्या सदैव सत्य सिद्ध होगी और अविद्या को सत्य मानकर ही उसकी निवृत्ति स्वीकार की जा सकती है । अविद्या को मिथ्या मानने पर तो निवृत्ति असंभव है । यदि अद्वैती अविद्या को असत्य ही मानते हैं, तब अविद्या-निवृत्ति को भी असत्य मानना चाहिए और अविद्यानिवृत्ति के असत्य सिद्ध होने पर अविद्या से निस्तार की आवश्यकता नहीं है ।[६५]

परमार्थभूषणम् की आलोचना

परमार्थभूषणम् की जिन दस निदर्शनभूत युक्तियों का

---

६५. 'अपिचाविद्यानिवृत्तिर्न बाध्या अनुभवितुरभावात्, अतएव नाभावप्रतियोगिनी, बाधाविषयत्वादिति तस्याः सत्यत्वमेवास्तु ।' वही, पृ० ८८०-८१

ऊपर विचार किया है उनकी आलोचना के लिए हमें पृथक् प्रयास की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनका खण्डन शतभूषणी के विवेचन में षष्ठ अध्याय में हो गया है । वीरराघवाचार्य स्वयं अपनी व्याख्याओं को वेदान्तदेशिक की आपत्तियों की पुनर्व्याख्या मानते हैं । उनकी पुनर्व्याख्या में अनिर्वचनीयत्व और विलक्षणत्व को समझने का प्रयास होना चाहिए था क्योंकि इसको वेदान्तदेशिक ने नहीं समझा था । उनके प्रति अनन्तकृष्णशास्त्री का मुख्य आरोप यही है । किन्तु वीरराघवाचार्य ने भी इसको समझने का प्रयास नहीं किया है । अत: उनकी पुनर्व्याख्या में नवीनता कम और पिष्टपेषण ही अधिक है । उन्होंने अनिर्वचनीयत्व कैसे नहीं समझा है, इसको प्रदर्शित करने के लिए हम निम्न तीन बातों को यहां प्रस्तुत करते हैं --

(i) अविद्यास्वरूपभंग को सिद्ध करते हुए वीरराघवाचार्य कहते हैं कि अनन्त कृष्ण शास्त्री ने ब्रह्मसिद्धि, इष्टसिद्धि, तत्त्वप्रदीपिका आदि ग्रन्थों के आधार पर अविद्या के अनिर्वचनीयत्व को अद्वैतसम्मत प्रतिपादित किया है और उन्होंने शतभूषणी द्वारा उद्भावित दोषों का तनिक भी परिहार नहीं किया है ।[66] किन्तु यह उनकी छद्मधर्मिता है । वे यह स्वीकार करते हैं कि अनिर्वचनीयत्व का खण्डन उन्हें करना चाहिए । परन्तु अविद्यास्वरूप के खण्डन के समय वे कहते हैं कि इस प्रकरण के अन्त में वे खण्डन करेंगे ।[67] परन्तु प्रकरण के अन्त में भी वे इसका विवेचन नहीं करते हैं और कहते हैं कि पचपनवें वाद में इसका निराकरण करेंगे ।[68] इस प्रकार जहां अनन्तकृष्ण शास्त्री अविद्या को स्वरूपत: अनिर्वचनीय प्रतिपादित करते हैं, वहां वीरराघवाचार्य अविद्या के इस स्वरूप के खण्डन की टालमटोल करते हैं । लगता है उनके पास इसके खण्डन के लिए कोई युक्ति नहीं

----

६६. 'न पुनः शतदूषण्युद्भावितानां दोषाणां तत्र मात्रयापि परिहारोऽस्ति।'
वही, पृ० ८४६-४७

६७. 'अनिर्वचनीयत्वस्यैवमग्रेऽन्ते विवेचयिष्यामः ।'
वही, पृ० ८४६-४७

६८. 'अविद्यानिर्वचनीयत्वं पंचपञ्चाशे वादे पराकरिष्यामः ।'
वही, पृ० ८४७

है। सत्यासत्यविवेक के प्रसंग में वे पुनः स्वीकार करते हैं कि विलक्षणत्व अथवा अनिर्वचनीयत्वरूप अविद्या को असिद्ध करने पर समस्त अद्वैतवाद असिद्ध हो जायेगा। परन्तु वे विलक्षणत्व अथवा अनिर्वचनीयत्व को समझने का प्रयास नहीं करते हैं। वे मानते हैं कि सामान्यतः सदसद्विलक्षण की कल्पना अयुक्त है।[६६] उनका आधार सत् और असत् को परस्पर व्यावर्तक मानना है और उनके परे किसी अन्य तत्व की कल्पना का प्रत्याख्यान करना है। अतः स्पष्ट है कि उन्होंने अनिर्वचनीयत्व कोटि को समझने में भूल की है। इस कारण वीरराघवाचार्य कृत अनिर्वचनीयत्व का खण्डन अपसिद्धान्त/अर्थान्तरकल्पना से ग्रस्त है। अतः वह अप्रामाणिक है।

(ii) वीरराघवाचार्य ने निवर्तकानुपपत्ति की व्याख्या शतदूषणी के आधार पर की है। उनकी यह मान्यता कि ब्रह्मैक्य ज्ञान होने पर जगत् का अपलाप नहीं होता है, बिना किसी तर्क के आधार पर है। इसके पीछे यदि कोई तर्क दुर्जनतोषन्याय से दिया जा सकता है तो वह विशिष्टाद्वैत का जगत् विषयक सिद्धान्त ही है। परन्तु उसके विरोध में अद्वैत का जगत् विषयक सिद्धान्त है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होने पर जगत् का अपलाप हो जाता है। पुनः, विशिष्टाद्वैत की जगत् मीमांसा भी जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध को अपृथक्सिद्धि कहती है और यह संभावना अग्रसर करती है कि ब्रह्म का अनुस्मरण करने से ब्रह्म से सायुज्य लाभ लिया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में स्वयं विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं कि सायुज्य लाभ में जगत् का बोध नहीं रहता। तब वे कैसे कह सकते हैं कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होने पर जगत् का अपलाप नहीं होता है। स्वयं अद्वैतवादी भी ब्रह्मज्ञान होने पर जगत् ज्ञान को ही असंभव बतलाता है, जगत् को नहीं। अतएव वीरराघवाचार्य ने ब्रह्मज्ञान को अविद्या का निवर्तक न मानकर केवल अपनी सम्प्रदायनिष्ठा का परिचय दिया है। और

---

६६. 'अतः सामान्यतः सदसद्विलक्षणं किंचिदिति कल्पनं तावन्न युक्तम्।'
वही, पृ० १०४२-४३

साथ ही उन्होंने अद्वैतवेदान्तियों के उन तर्कों का खण्डन नहीं किया है जिनके अनुसार अज्ञान स्वयं अज्ञान का नाशक है और कतकरजवत् अविद्या अपने विषय का नाश करते ही स्वयं नष्ट हो जाती है। यद्यपि उन्होंने दाह्य के नाश के साथ ही अग्नि के नाश को अयुक्त कहा है[70] तथापि इसके लिए उन्होंने कोई सबल युक्ति नहीं दी है। कुछ भी हो शतभूषणी में निवर्तकानुपपत्ति के निराकरण में जो नवीन युक्तियाँ दी गयी हैं, उनका खण्डन परमार्थभूषणकार नहीं कर सके हैं।

(iii) परन्तु चूंकि परमार्थभूषणकार ने अविद्या को ही सम्यक् प्रकार से नहीं समझा है इसलिए अविद्यानिवृत्ति को सम्यक् प्रकार से समझने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह उल्लेखनीय है कि अविद्यानिवृत्ति के विषय में अद्वैतवेदान्त में अनेक मतमतान्तर हैं जिनमें से एक अविद्या-लेश को भी मानता है। किन्तु इस सिद्धान्त के औचित्य को परमार्थभूषणकार समझने का प्रयास नहीं करते और उसका खण्डन अपने आग्रह के आधार पर करते हैं। परन्तु जैसे वे अविद्या के खण्डन में टालमटोल करते हैं वैसे ही उन्होंने अविद्यानिवृत्ति के खण्डन में भी टालमटोल की है और आठवें प्रकरण में खण्डन करने का संकेत भर देते हैं।[71] और वहाँ भी वे अविद्यानिवृत्ति की अवधारणा सत्यासत्य के द्विकोटिक न्याय के ही आधार पर करने का प्रयास करते हैं। निःसन्देह शतभूषणीकार ने अविद्या और अविद्यानिवृत्ति को इस प्रकार से समझने में जो आपत्ति की है, उसका खण्डन परमार्थभूषणकार ने नहीं किया है।

इस प्रकार परमार्थभूषणकार ने आधुनिक तर्कशास्त्र तथा

----

७०. वही, पृ० ८७६

७१. "शेषं चाग्रिमे सत्यासत्यविवेकवादे द्रष्टव्यम्।"

वही, पृ० ८८४

वेदान्तदेशिकोत्तर अद्वैतवेदान्त की युक्तियों के आधार पर अनिर्वचनीयत्व को समझने का प्रयास नहीं किया है । अनन्तकृष्ण शास्त्री ने कम से कम वेदान्तदेशिकोत्तर अद्वैतवेदान्त के आधार पर एक नया खण्डन किया है । इस नये खण्डन के लिए एक नया प्रतिवाद चाहिए था - जो वेदान्तदेशिक के पिष्टपेषण से भिन्न हो । परन्तु ऐसा प्रतिवाद परमार्थभूषणकार नहीं दे सके । जिस प्रकार अविद्या-लेश, प्रपंच अनिर्वचनीयत्व, आदि नवीन संप्रत्ययों को वेदान्तदेशिकोत्तर अद्वैतवेदान्त ने जन्म दिया है, जिस प्रकार अद्वैतसिद्धिकार के सर्वसंग्रहकारी मतों को लेकर अनन्तकृष्ण शास्त्री ने एक नयी उद्भावना की है वह सब परमार्थभूषणकार के लिए एक `कुप्रश्न` या वेद निन्दा के समान है । नयी आलोचनाओं का उत्तर नये ढंग से होना चाहिए । इस तथ्य को परमार्थभूषणकार ने नहीं समझा है । अतः उनकी आलोचनायें आधुनिक युग में लिखी जाने पर भी युगीन नहीं है ।

-o-

अष्टम अध्याय

-0-

विशिष्टाद्वैत की सिद्धि का प्रयास

अष्टम अध्याय

-o-

विशिष्टाद्वैत की सिद्धि का प्रयास

ताताचार्य की विशिष्टाद्वैत सिद्धि

श्री डी० टि० ताताचार्य (१८९२-१९७४) जो अपने समय के एक प्रकाण्ड विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् थे, अनन्तकृष्ण शास्त्री के सहपाठी थे। उन्होंने अद्वैतवाद के खण्डन में अधिक रुचि न लेकर विशिष्टाद्वैत की सिद्धि में ही अधिक रुचि ली। किन्तु फिर भी उनके प्रतिपादन में अद्वैतवेदान्त का खण्डन आ ही गया है। इस प्रसंग में उनके दो ग्रन्थ हैं—'शरीर सिद्धि' और 'विशिष्टाद्वैतसिद्धि'।

ताताचार्य को जब शतभूषणी देखने को मिली तो वे बहुत दुःखी हुए। उनका अनुभव है कि अनन्तकृष्ण शास्त्री विद्यार्थी जीवन से ही बकवाद लेखक थे और उन्हें जो भी जिस क्षण सूझता था, उसको बिना गम्भीरता से विचारे और बिना उसके दूरगामी परिणाम को सोचे लिख डालते थे। कई बार उनके बकवादी, असावधानी और असत्य कथन के विरोध में ताताचार्य को लिखना पड़ा[1]। आगे इस व्यक्तिगत आक्षेप के अतिरिक्त ताताचार्य एक सार्थक संकेत करते हैं कि आधुनिक युग खण्डन-मण्डन का युग नहीं है और इस कारण आधुनिक अद्वैतवेदान्तियों को विशिष्टाद्वैत और द्वैत का खण्डन न करके उनसे अपना सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। जब विशिष्टाद्वैत का दृष्टिकोण अद्वैतवेदान्त के अनुसार व्यावहारिक स्तर का दृष्टिकोण है तो फिर उसके खण्डन का प्रश्न कहाँ उठता है? उसे तो अद्वैतवेदान्तियों को व्यावहारिक जगत् के लिए सत्य

---

१ विशिष्टाद्वैतसिद्धिः, लेखक तथा प्रकाशक, डी० टि० ताताचार्य, तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश), प्रथम संस्करण, १९५५, अंग्रेजी प्रीफेस, पृ० ७-८

मान लेना चाहिए । इस कारण ताताचार्य शतभूषणी के खण्डन में लगना व्यर्थ श्रम-कलाप समझते हैं । उन्होंने शतभूषणी लिखने से पूर्व विशिष्टाद्वैत-सिद्धि और शरीरात्मसिद्धि नामक ग्रन्थ लिखे थे । इन ग्रन्थों में शतभूषणी के तर्कों का खण्डन नहीं है । किन्तु फिर भी इनमें मायावाद का खण्डन है और चूँकि यह खण्डन आधुनिक युग के एक प्रकांड विशिष्टाद्वैतवादी द्वारा किया गया है, इसलिए उसका अपना महत्व भी है ।

ताताचार्य ने विशेषरूप से शंकराचार्य के अविद्या-सिद्धान्त पर आचार्य रामानुज द्वारा आरोपित सात अनुपपत्तियों की पुनः स्थापना की । यह स्थापना यों है —

<u>आश्रयानुपपत्ति</u>

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है । अपने पक्ष में वे "अहम् अज्ञः" प्रत्यय को प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं । परन्तु यहाँ प्रश्न है कि अज्ञान का तात्पर्य क्या है ? क्या इसका तात्पर्य सभी विषयों का अज्ञान है अथवा कुछ विषयों का ? "अहम् अज्ञः" का तात्पर्य सम्भवतः कुछ विषयों के अज्ञान से ही है, सभी विषयों के अज्ञान से नहीं । थोड़ी देर के लिए यदि यह मान लिया जाय कि अज्ञान का तात्पर्य सभी विषयों के अज्ञान से है तो प्रश्न उठता है कि सभी विषयों के अज्ञान का आश्रय शुद्ध ब्रह्म है या अहंकार ? अहंकार नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अविद्या पर निर्भर है । ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है[2] । अद्वैतवादी यहाँ "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" इस श्रुति को प्रमाण के रूप में उपस्थित कर सकते हैं । परन्तु यह श्रुति भी शुद्ध ब्रह्म को अविद्या का आश्रय सिद्ध करने में असमर्थ है । ताताचार्य का कहना है कि ब्रह्म के निष्कृष्ट अज्ञानाश्रयत्व में प्रमाणरूप में इस श्रुति को नहीं लिया जा सकता क्योंकि

---

२ वही, पृ० १८७-८८

यह ब्रह्म और जगत् में नियामक तथा नियम्य का सम्बन्ध बताती है। फिर ऐसी भी श्रुति है, "ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशनीशौ" अर्थात् ज्ञ और अज्ञ दो चेतन हैं, इनमें ज्ञ ईश्वर है और अज्ञ जीव है। स्पष्ट है कि यह श्रुति सर्वज्ञ ईश्वर के अविद्याश्रयत्व का निषेध करती है[3]।

पुनः प्रश्न है कि यहाँ आश्रय का क्या अर्थ है ? भूतल घट का आश्रय है, घट अपने में स्थित रूप का आश्रय है, कुण्ड फल का आधार है, सूर्यप्रभा का आश्रय है, इन प्रकारों में से कौन सा प्रकार वह आश्रय है जो अविद्याश्रय है। स्पष्ट है कि वह इनमें से किसी भी प्रकार का नहीं है क्योंकि ब्रह्म के निरंश होने के कारण पूर्वोक्त प्रकारों में किसी भी प्रकार का आश्रयत्व मानने पर उसकी शुद्धता की हानि होगी। पुनश्च, अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि जैसे शुक्ति रजत का आश्रय है ठीक उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म अविद्या का आश्रय है। परन्तु ताताचार्य इस कथन से असहमत हैं क्योंकि उक्त स्थल में अध्यास होता है। प्रश्न है कि प्रकृत स्थल में अध्यास कौन करता है ? शुद्ध होने के कारण ब्रह्म अध्यास नहीं कर सकता है। अविद्या भी अपने को ब्रह्म में अध्यस्त नहीं कर सकती है क्योंकि चेतन ही अध्यास कर सकता है और अविद्या जड़ है। अविद्या और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई तीसरा यहाँ अध्यास करने वाला नहीं है। पुनश्च, अद्वैतवादी ब्रह्म में ज्ञातृत्व नहीं मानते हैं। अतः ब्रह्म शुद्ध ज्ञान का आश्रय भी नहीं हो सकता है। इस आपत्ति का परिहार करते हुए अद्वैतियों का कहना है कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य में ज्ञातृत्व नहीं है तथापि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य में ज्ञातृत्व है। इसलिए वहाँ अज्ञान हो सकता है। यहाँ ताताचार्य का कहना है कि जहाँ ज्ञान होता है वहीं अज्ञान भी हो सकता है। अविद्यावच्छिन्न चैतन्य और शुद्ध चैतन्य भिन्न-भिन्न हैं। यदि शुद्ध चैतन्य में ज्ञातृत्व नहीं है तो वहाँ अज्ञान कैसे हो सकता है[4] ?

---

3. वही, पृ० ११८

4 वही, पृ० १८-१९

पुनश्च अद्वैतवेदान्ती मानते हैं कि ब्रह्म अहंकार-ग्रन्थि में प्रतिबिम्बित होता है और इस प्रतिबिम्ब में अज्ञान है। तातार्य का प्रश्न है कि अद्वैतवेदान्त का रूप रहित ब्रह्म प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है? क्योंकि रूपवान का प्रतिबिम्ब हो सकता है। अद्वैतियों का कहना है कि "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब होता है। परन्तु तातार्य के अनुसार अद्वैतियों ने इस श्रुति का अनर्थ किया है। एक स्मृति-वाक्य है, "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्।" इसका अर्थ है ईश्वर स्वयं एक होकर उन उन वस्तुओं के रूप में अनेक प्रकार से दिखायी पड़ता है। जैसे जल में दिखायी पड़ने वाला चन्द्र जलगत दोष से दूषित नहीं होता है उसी प्रकार अनेक वस्तुओं के रूप में दिखायी पड़ने पर भी ईश्वर उन वस्तुगत दोषों से संस्पृष्ट नहीं होता है। यहाँ जल चन्द्र का दृष्टान्त दोष असम्बन्ध के लिए दिया हुआ है, न कि प्रतिबिम्ब के रूप में। इसी प्रकार "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" में ईश्वर और अन्य वस्तु का असंबन्ध बताया गया है, न कि प्रतिबिम्बभाव[5]।

तिरोधानानुपपत्ति

अद्वैतवेदान्त में इस प्रकार का व्यवहार है कि ब्रह्म है, ब्रह्म प्रकाशमान है। इस व्यवहार को अयोग्य बना देना आवरण है अथवा ब्रह्म ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म प्रकाशमान नहीं है, इस प्रकार के व्यवहार के योग्य बना देना आवरण है। यह आवरण स्वरूप से शुद्ध चैतन्य के सदा प्रकाशमान होने पर भी पूर्ण ब्रह्म नहीं है और पूर्ण ब्रह्म प्रकाशमान नहीं है, इस प्रकार के व्यवहार के योग्य बना देता है। अर्थात् आवरण के कारण ब्रह्म अपने पूर्णरूप में प्रकाशमान नहीं होता है। यहाँ तातार्य का कहना है कि व्यवहार के लिए सामग्री की आवश्यकता है। प्रश्न है कि यहाँ वह सामग्री क्या है?

---

५ वही, पृ० १९-२०

क्या ब्रह्म, ऐसी जो प्रतीति है, वह है ? अथवा शुद्ध चैतन्य प्रकाश ही है ? ब्रह्म प्रत्यय सामग्री नहीं हो सकता क्योंकि यह प्रत्यय (ज्ञान) शुद्ध चैतन्य को अपना विषय बनाने में असमर्थ है और अद्वैतमत में ब्रह्म प्रत्यय या ज्ञान का विषय नहीं है । फिर, शुद्ध चैतन्यप्रकाश भी सामग्री नहीं हो सकता क्योंकि यह अतीन्द्रिय है । पुनः, "ब्रह्म नास्ति एवं न प्रकाशते", इस प्रकार का व्यवहार भी नहीं हो सकता है क्योंकि अनेक वेदान्त वाक्य ब्रह्म के अस्तित्व एवं उसके प्रकाशमानत्व का प्रतिपादन करते हैं । ये वेदान्त वाक्य, "नास्ति न प्रकाशते" इस प्रकार के व्यवहार के प्रतिबन्धक हैं । अतः "नास्ति न प्रकाशते" कहना असंगत है[६]।

स्वरूपानुपपत्ति

अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार घट की भाँति अविद्या भी कल्पित है, अतएव मिथ्या है । इस पर ताताचार्य का कहना है कि कल्पित होने के कारण उसकी कल्पना के लिए दूसरी अविद्या और दूसरी के लिए तीसरी अविद्या की आवश्यकता है और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा । इस आपत्ति का परिहार करते हुए अद्वैतियों का कहना है कि अविद्या अपनी कल्पना के लिए दूसरी अविद्या की अपेक्षा नहीं करती है क्योंकि यह स्वयं स्वकल्पक है । यहाँ ताताचार्य का प्रश्न है कि स्वकल्पक अविद्या असत् है अथवा सत् है ? वह असत् नहीं हो सकती क्योंकि कहीं भी असत् कारण के रूप में नहीं दिखलायी पड़ता है । और यदि सत् ही कारण है तो फिर कारण की क्या आवश्यकता है ?[७]

पुनश्च, अद्वैतियों का कहना है कि अविद्या के कल्पित होने पर भी अनवस्था दोष नहीं आता क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा है, यह दोष

---

६ शरीर सिद्धि:, लेखक और प्रकाशक, के० सि० ताताचार्य, तिरुपति, आन्ध्र प्रदेश, १९६६, पृ० ५१ ।

७ वही, पृ० ५५

नहीं है । इसका खण्डन करते हुए ताताचार्य का कहना है कि अद्वैतवेदान्त में "अविद्या प्रवाह" नहीं माना गया है । अविद्या प्रवाह मानने पर सिद्धान्त का परित्याग करना पड़ेगा[८] ।

पुनः, कल्पना के अभाव में अविद्या सिद्ध न होने के कारण अद्वैतवेदान्त में अविद्या की भाँति कल्पना को भी अनादि माना गया है । ताताचार्य का आक्षेप है कि कल्पना अनादि नहीं हो सकती क्योंकि कल्पना एक मानसिक क्रिया है और मानसिक क्रिया सदैव सादि होती है । अतः मानसिक क्रिया होने के कारण कल्पना के अनादि होने का प्रश्न ही नहीं है[९]।

उनके अनुसार भ्रम स्थल में विषय मिथ्या है, भ्रम नहीं । शुक्ति-रजत स्थल में रजत-भ्रम मिथ्या नहीं है, यह सत्य है । रजत-रूप विषय ही मिथ्या है । अतः अविद्या जन्य विषय अर्थात् प्रपंच मिथ्या हो सकता है, स्वयं अविद्या मिथ्या नहीं हो सकती है । भ्रम अन्य वस्तु के रूप में परिणत नहीं हो सकता है । शुक्ति-रजत स्थल में भ्रम रजत के रूप में परिणत नहीं हो सकता है । इसी प्रकार अविद्या भी प्रपंच के रूप में परिणत नहीं हो सकती है । अतः अविद्या प्रपंच का उपादान कारण नहीं है । फिर, जैसे भ्रम स्थिर नहीं है, वैसे अविद्या भी स्थिर नहीं हो सकती है । भ्रम भी ज्ञान है । ज्ञान का स्वभाव विषय का प्रकाशन करना है, उसे आवृत करना नहीं है । रजत भ्रम-स्थल में भ्रम ज्ञान रजत को प्रकाशित करता है । शुक्ति का आवरण दूरी आदि के कारण होता है, भ्रम के कारण नहीं । अतः अज्ञान किसी को आवृत कर सकने में असमर्थ है । अतः अज्ञान भ्रम-तुल्य नहीं है[१०]।

इस प्रकार अविद्या का स्वरूप किसी भी रूप में निष्पन्न नहीं हो सकता है ।

---

८ वही, पृ० ४६

९ वही, पृ० ४९

१० वही, पृ० ५१

अनिर्वचनीयानुपपत्ति

अद्वैतवेदान्त में अविद्या को सदसद्विलक्षण अतएव अनिर्वचनीय कहा गया है । यहाँ श्रीभाष्यकार का कथन है कि प्रपंच में वस्तु की प्रतीति या तो सत् रूप में होती है या असत् रूप में । इन दोनों से भिन्न कोई तीसरी प्रतीति नहीं होती है । पहली प्रतीति सत् विषयक है, दूसरी प्रतीति असत् विषयक । सदसद्विलक्षण-विषयक प्रतीति कहीं भी नहीं है । अतः अविद्या को सदसत् विलक्षण रूप अनिर्वचनीय कहना ठीक नहीं है । इस आपत्ति के समाधान में अद्वैतसिद्धिकार ने कहा कि सत् वह है जो त्रिकाल अबाधित है । तथा अविद्यमान ही असत् है । इन दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है । इस पर तातार्य का कहना है कि सत् और असत् का लोक प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अपना पारिभाषिक अर्थ लेना अयुक्त है और अपने पारिभाषिक अर्थ द्वारा लोक प्रसिद्ध अर्थ कहने वाले श्रीभाष्यकार का खण्डन करना अनुचित है । ब्रह्म और तुच्छ से भिन्नता मिथ्यात्व के बिना भी सिद्ध हो सकती है । अनित्य प्रपंच नित्य ब्रह्म से विलक्षण है और व्यवहार-योग्य प्रपंच से व्यवहार अयोग्य तुच्छ विलक्षण है । अतः प्रपंच को मिथ्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[११]

कुछ अद्वैतवेदान्ती असद्विलक्षणत्व को छोड़कर अविद्या को सद्विलक्षण अनिर्वाच्य मानते हैं । यहाँ तातार्य का कहना है कि सद्-विलक्षणत्व कहने पर उसमें बाध्यत्व आ ही जाता है और इस कारण अनिर्वाच्यत्व मानने का कोई औचित्य नहीं है ।[१२]

पुनश्च, कुछ अन्य अद्वैतवादियों का कहना है कि अविद्या ख्याति एवं बाध होने के कारण अनिर्वचनीय है । परन्तु ऐसा स्वीकार करने पर ब्रह्म को भी अनिर्वचनीय मानना पड़ेगा क्योंकि कुछ श्रुति वाक्य ब्रह्म को सगुण बताते हैं और कुछ निर्गुण । यदि ब्रह्म कभी सगुण प्रतीत होता है और

---

११ वही, पृ० ५२
१२ वही, पृ० ५३

कभी सगुण प्रतीत होता है और कभी उसका बाध भी होता है तो ख्याति एवं बाध होने के कारण अनिर्वचनीय मानने पर[13] ब्रह्म को भी अनिर्वचनीय मानना पड़ेगा । परन्तु अद्वैती ऐसा नहीं मानते ।

प्रमाणानुपपत्ति

अद्वैतवेदान्ती अविद्या की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण देते हैं । "अहं अज्ञः", "माम् अहं न जानामि" आदि प्रत्यक्ष प्रमाण है । श्री भाष्यकार का कहना है कि "अहम् अज्ञः" का तात्पर्य है "मैं अज्ञानी हूँ" । किन्तु प्रश्न है कि यह अज्ञान किसका है ? उत्तर है, आत्मा का अज्ञान है और इसीलिए ऐसा अनुभव होता है कि मैं अपने को नहीं जानता हूँ । यहाँ श्री भाष्यकार का कहना है कि इस प्रकार के अनुभव में अज्ञान के विषय के रूप में अहम् अर्थ आत्मा भासमान है । अपने विषय का ज्ञान उसको हो रहा है । इस कारण उस अज्ञान की निवृत्ति अवश्य होनी चाहिए । परन्तु इस स्थिति में "मुझको अपने विषय का अज्ञान है", ऐसा अनुभव कैसे हो सकता है ? इसके समाधान में अद्वैतवेदान्ती यह कहते हैं कि अज्ञान का आश्रय चैतन्य अर्थात् जीवात्मा है । इसमें और अज्ञान में कोई विरोध नहीं है । इसलिए "मैं अपने विषय का अज्ञानी हूँ", ऐसी प्रतीति हो सकती है । यहाँ तातापार्य का कहना है कि अद्वैतवेदान्त में अहम् शब्द का वाच्य स्वरूप-चैतन्य अर्थात् जीवात्मा नहीं है । यदि जीवात्मा में अज्ञान है तो "अहं अज्ञः" से जीवात्मा के अज्ञान की सिद्धि नहीं किया जा सकता है । पुनः, अद्वैती यह कहते हैं कि "अहं अज्ञः" का तात्पर्य है कि आत्मा नामक एक वस्तु है किन्तु उसके स्वभाव एवं आकार के बारे में हम पूर्णरूप से नहीं जानते हैं । अतः "अहं अज्ञः" कथन ठीक नहीं है । परन्तु तातापार्य का कहना है कि अद्वैतवेदान्त में आत्मा निरवयव एवं निर्विशेष है । इस प्रकार की वस्तु में यदि ज्ञान होता तो पूर्णरूप से होता, नहीं तो बिल्कुल

---

१३. वही, पृ० ५३

भी नहीं होता क्योंकि उसमें भाग या अंश न होने के कारण ऐसा सम्भव नहीं है कि कुछ अंश का ज्ञान हो और कुछ अंश का ज्ञान न हो । अत: अज्ञान की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण असंगत है।[२४]

फिर, शास्त्राचार्य के अनुसार अद्वैतवादी अविद्या की सिद्धि के लिए जिस अनुमान का आश्रय लेते हैं वह भी असंगत है । अद्वैतवादियों का अनुमान इस प्रकार है — "प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न-प्रदीपप्रभावत् ।" अर्थात् प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से भिन्न, अपने विषय के आवृत, स्वनिवर्त्य और स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वक है क्योंकि वह अप्रकाशितार्थ प्रकाशक है, जैसे अन्धकार में प्रथम उत्पन्न दीप की प्रभा अप्रकाशितार्थ प्रकाशक है । यहाँ श्रीभाष्यकार का कहना है कि अद्वैतवादी इस अनुमान से जिस अज्ञान की सिद्धि करना चाहते हैं उससे भिन्न एक अन्य अज्ञान की भी सिद्धि हो जायेगी । शास्त्रकारों के मत में एक अनुमान से एक ही साध्य सिद्ध किया जा सकता है । यदि एक अनुमान से दो साध्य सिद्ध होते हैं तो वह अनुमान दोष-युक्त है । कैसे ? इस अनुमान से अज्ञान को सिद्ध करने से पूर्व उस अज्ञान का अज्ञान था और यदि इस अनुमान से ही उस अज्ञानविषयक अज्ञान की सिद्धि होती है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि यह अनुमान एक से भिन्न दो अज्ञानों को सिद्ध करता है और दो साध्यों को एक अनुमान से सिद्ध करना शास्त्रविरुद्ध है।[२५]

पुनश्च, शास्त्राचार्य का प्रश्न है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से सिद्ध किये जाने वाले अज्ञान का आश्रय ज्ञाता है या ज्ञान ? ज्ञाता आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैती ज्ञाता को नहीं मानते हैं । ज्ञान भी आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि "चैतन्य नहीं जानता है", ऐसा व्यवहार कभी नहीं होता है । अत:

---

२४. वही, पृ० ५६
२५. वही, पृ० ६४

अज्ञान की सिद्धि किसी भी प्रमाण से संभव नहीं है ।

अज्ञान की सिद्धि के लिए अद्वैतवेदान्ती "अनृतेन हि प्रत्यूढा" इस श्रुति को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं । किन्तु यह श्रुतिप्रमाण भी उपयुक्त नहीं है । यहाँ अद्वैतियों ने अनृत शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय अज्ञान किया है । प्रपंच में विद्यमान जीव इस अनृत से आवृत है । ताताचार्य का कहना है कि अद्वैतियों का यह अर्थ ठीक नहीं है । लोक में सत्य और अनृत शब्द का प्रयोग यथार्थ और अयथार्थ के अर्थ में किया जाता है, निर्वचनीय और अनिर्वचनीय के अर्थ में नहीं । तैत्तिरीय उपनिषद् में इस प्रकरण में 'निरुक्तम् अनिरुक्तम्, निलयनम् अनिलयनम्, विज्ञानम् अविज्ञानम्, सत्यम् अनृतम्' ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है । यहाँ सत्य शब्द का अर्थ निर्विकार चित् तत्त्व है । अनृत शब्द का अर्थ विकार स्वभाव वाला अचित् तत्त्व है और यही अर्थ सभी भाष्यकार मानते हैं । अतः अनृत शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय करना किसी भी रूप में संगत नहीं है । पुनश्च, अनिर्वचनीय संप्रत्यय गौडपाद के पूर्व नहीं था । यह गौडपाद से ही प्रारम्भ हुआ है । अतः उनके पूर्वकालीन किसी भी शब्द का अनिर्वचनीय के अर्थ में प्रयोग असंभाव्य है । ऋत और अनृत शब्द सत्य और असत्य के वाचक हैं । अद्वैतियों के अज्ञानवाचक होने में ये प्रमाण नहीं हो सकते हैं । वैदिक ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र ऋत शब्द का प्रयोग नित्य फल देने वाले के अर्थ में और अनृत शब्द का प्रयोग अस्थिर फल देने वाले के अर्थ में हुआ है । इसका प्रयोग अनिर्वचनीय के अर्थ में कहीं भी नहीं हुआ है । अतः 'अनृतेन हि प्रत्यूढा' वाक्य में अनृत शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय नहीं अपितु कर्म है।[16]

पुनश्च, 'नासदासीन्नो सदासीत्' इस श्रुतिवाक्य को अद्वैतवादी सत् और असत् से विलक्षण अज्ञान का ही प्रतिपादक वाक्य मानते हैं । ताताचार्य के मत में यह असंगत है क्योंकि इस वाक्य का अभिप्राय सन्मात्र ब्रह्म है

---

१६. वही, पृ० ६८

यह ब्रह्म सत् है अथवा असत् ऐसा निरूपण करने में असमर्थ है क्योंकि आगे "यतोवाचोनिवर्तन्ते" यह श्रुतिवाक्य है । अतः उपर्युक्त श्रुतिवाक्य अज्ञान में प्रमाण नहीं है।[97]

पुनश्च, श्रुतियों में प्रयुक्त माया शब्द का अर्थ अद्वैतियों ने अज्ञान किया है । परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि "अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णां बह्वीम्प्रजां जनयन्तीम सरूपाम् अजः हि एकः जुषमाणः अनुशेते जहाति एनां भुक्तभोगां अजः अन्यः" इस मन्त्र में प्रकृति ही प्रतिपादित है । इस प्रकृति का प्रतिपादन ही "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" श्रुति में किया गया है । किसी भी प्रयोग में अनिर्वचनीय अर्थ प्रतिपादित नहीं है । विचित्र कार्य करने वाली कोई वस्तु इससे प्रतिपादित है । यह केवल जड़भूत प्रकृति ही है ।[98]

पुनश्च, श्रुति के अनुसार ब्रह्म ही प्रपंच का कारण है । किन्तु शुद्ध ब्रह्म प्रपंच का कारण नहीं हो सकता है । अतः श्रुति अर्थापत्ति प्रमाण से अविद्या की सिद्धि करती है । इस अविद्या से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का कारण है । परन्तु ताताचार्य का कहना है कि ब्रह्म जगत् का कारण है, इस युक्ति से अविद्या सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि अन्य वाक्यों में ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सत्यसंकल्प आदि कहा गया है । इस शक्ति एवं ज्ञान से ब्रह्म प्रपंच का निर्माण करने में समर्थ है । अतः अविद्या कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है ।[99]

निवर्तकानुपपत्ति

अद्वैतवेदान्त में निर्विशेष ब्रह्मज्ञान अविद्या का निवर्तक है ।

---

९७. "अस्य वाक्यस्य प्रकृतः अज्ञानाख्यार्थाप्रतिपादकत्वात् । वाचामगोचरं सत्त्वार्थं ब्रह्म सदिति वा असदिति वा निरूपयितुं न शक्यत इत्यर्थपरत्वात् । यतो वाचो निवर्तन्त इति श्रुतेः ।" वही, पृ० ७१

९८. "विचित्रकार्यकरं किंचिद् वस्तु अभिधीयते । तथाभूतत्वात् प्रकृतिः ।" वही, पृ० ७२

९९. वही, पृ० ७४

परन्तु इस विषय में श्रुति वाक्य इस प्रकार है, 'तमेवं विद्वान् अमृत: इहभवति' अर्थात् ब्रह्म को महान्, अणुतादि गुण विशिष्ट के रूप में जानने वाला अमृतत्व प्राप्त करता है । स्पष्ट है कि यह श्रुति वाक्य अद्वैतियों के उपर्युक्त मत के विरुद्ध है । इस विरोध के परिहार में अद्वैतवादी कह सकते हैं कि मुक्ति दो प्रकार की होती है--परममुक्ति और परममुक्ति को प्राप्त कराने वाली मुक्ति । 'तमेवं विद्वान्' वाक्य में उक्त सगुणज्ञान परममुक्ति प्राप्त कराने वाली दूसरी मुक्ति का साधन है । अत: निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान अविद्या को निवृत्त करके परम मुक्ति प्राप्त करता है । परन्तु तातार्य का कहना है कि उक्त श्रुति वाक्य के अर्थ को अद्वैतियों ने तोड़-मरोड़ दिया है । फिर, मुक्ति के प्रकार द्वय का प्रमाण क्या है ? 'अमृत:' शब्द से स्पष्टरूप से मुक्ति प्रतीत होती है । उसके साधन रूप में 'तमेवं विद्वान्' वाक्य प्रवृत्त है । इस वाक्य को छोड़ द्वितीय मुक्ति का कारण कहना उचित नहीं है ।[20]

अद्वैत मत में, तत्त्वज्ञान अविद्या और अविद्या कल्पित ज्ञाता को भी नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है । तातार्य का कहना है कि 'देवदत्त वृक्ष काटता है, वाक्य में देवदत्त कर्ता और वृक्ष कर्म है । अत: कर्ता और कर्म को भिन्न-भिन्न होना चाहिए । परन्तु अद्वैत मत मानने का तात्पर्य यह होगा कि देवदत्त को भी काटा जाना चाहिए क्योंकि तत्त्वज्ञान अविद्या को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है । अद्वैतियों का उत्तर है कि निवर्तक ज्ञानमें एक ऐसी शक्ति है कि वह अविद्या को निवृत्त करके स्वयं नष्ट हो जाती है । 'देवदत्त वृक्ष काटता है', इस प्रकार का लौकिक दृष्टान्त यहां लागू नहीं होता क्योंकि निवर्तक ज्ञान विशिष्टशक्ति से युक्त है । इस पर तातार्य का प्रश्न है कि ऐसा मानने में प्रमाण क्या है ? लौकिक ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान में भेद क्या है ? अद्वैतवादी केवल यही कह सकते हैं कि अन्यथा अद्वैत सिद्ध नहीं होता ।[21]

---

२० वही, पृ० ७४

२१ वही, पृ० ७५-७६

निवृत्त्यनुपपत्ति

अद्वैत मत में बन्ध की निवृत्ति ज्ञान से होती है। परन्तु श्रीभाष्यकार का कहना है कि बन्ध के पारमार्थिक होने के कारण उसकी निवृत्ति ज्ञान से सम्भव नहीं है। घट आदि पारमार्थिक वस्तु ज्ञान से निवृत्त होते दिखलायी नहीं पड़ते हैं। इसका उत्तर देते हुए अद्वैतियों का कहना है कि बन्ध पारमार्थिक नहीं है, दृश्य होने के कारण असत्य ही है। यहाँ ताताचार्य का प्रश्न है कि योगियों को ब्रह्म दृश्य है तो क्या ब्रह्म को मिथ्या माना जा सकता है? फिर, श्रुति या अन्य प्रमाणों से प्रपंच का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं है। अतः बन्ध के पारमार्थिक होने के कारण उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है।[22]

पुनश्च, अद्वैत मत में भावरूप अज्ञान अनादि है। इस पर ताताचार्य का कहना है कि भावरूप वस्तु की निवृत्ति ज्ञान से कदापि सम्भव नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भावरूप होने पर भी ज्ञान से निवृत्ति सम्भव है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि भावरूप ब्रह्म की भी निवृत्ति हो सकती है। अतः किसी भी परिस्थिति में अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है।[23]

ताताचार्य की आपत्तियों का निराकरण

ताताचार्य की आपत्तियां प्रायः रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य पर आधारित हैं। रामानुजाचार्य की आपत्तियों को ही उन्होंने अपने शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इन आपत्तियों का खण्डन अनन्तकृष्ण शास्त्री ने शतभूषणी में कर दिया है। अतः उनका खण्डन करना यहाँ पिष्टपेषण मात्र होगा। पुनश्च, ताताचार्य ने इन आपत्तियों को शतभूषणी के आलोक में नहीं लिखा है। अतः उनका प्रतिपादन साम्प्रदायिक और रूढ़िवादी अधिक है; दार्शनिक कम।

हां, उनकी आपत्तियों का एक नया आधार दिखलायी पड़ता है। वह है लोकव्यवहार या सामान्य भाषा का प्रयोग। सत्, असत्,

---

२२ वही, पृ० ७७

२३ वही, पृ० ७६

ज्ञान, अज्ञान, आदि शब्दों के जो प्रयोग सामान्यत: लोक में किये जाते हैं उनके आधार पर उन्होंने अज्ञान-सिद्धान्त का खण्डन किया है । किन्तु क्या लोक-व्यवहार से वैदिक-व्यवहार की व्याख्या की जा सकती है ? क्या लोकव्यवहार में वह आप्तता है जो दार्शनिकों के सिद्धान्त को परखने की कसौटी उसे बना सके ? यदि हम इन प्रश्नों का विचार करें तो ज्ञात होगा कि तातार्चाय स्वयं वेद को प्रमाण मानते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि वेद हमें वह ज्ञान देता है जो लोकव्यवहार नहीं देता है । प्रत्यक्ष और अनुमान से जो ज्ञात नहीं होता, जो सकता वह वेद से ज्ञात होता है । अतएव वैदिक ज्ञान के सत्यासत्य की कसौटी लोकव्यवहार को नहीं बनाया जा सकता है । इस प्रकार अद्वैतवादियों के अज्ञान-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए तातार्चाय उस आधार पर खड़े हैं जो उन्हें स्वयं स्वीकार्य नहीं है ।

पुनश्च, क्या लोकव्यवहार में वह निश्चितता और असंदिग्धता तथा स्पष्टता है जिसे तातार्चाय प्रमाणभूत मानते हैं ? अद्वैतवादियों का कहना है कि लोकव्यवहार स्वयं सत्य और अनृत पर आधारित है । उससे हमें सत्य को निकालना चाहिए और अनृत को छोड़ना चाहिए । लोकव्यवहार में सत्य आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति है जो अव्यभिचारी रहती है । उसके अतिरिक्त लोकव्यवहार में कोई व्यभिचारी ज्ञान नहीं है । अत: यदि उन सबको आत्म प्रतीति की तुलना में अद्वैतवादी अज्ञान कहते हैं तो उनका मत लोकविरुद्ध कहाँ हुआ ?

नवम अध्याय

-०-

विश्वविद्यालयीन दार्शनिकों के मत

नवम अध्याय

-o-

विश्वविद्यालयीन दार्शनिकों के मत

अभी तक मायावाद के जितने खण्डनों का विचार किया गया था वे सब सम्प्रदाय-विशेष से प्रेरित थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती से लेकर वे० सि० ताताचार्य तक जितने भी खण्डन कर्ता हुए हैं उन्होंने अपने-अपने सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से मायावाद का खण्डन किया है। स्वयं अनन्तकृष्ण शास्त्री ने अथवा जिस किसी ने मायावाद के इन खण्डनों का उत्तर दिया है वे भी अद्वैत सम्प्रदाय से ही प्रेरित रहे हैं। यद्यपि ठक्कुर वीरराघवाचार्य और ताताचार्य ने इस आवश्यकता पर बल दिया कि साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन से ऊपर उठकर आधुनिक युग में अद्वैतवेदान्त और अन्य दर्शनों का समन्वय करना चाहिए तथापि यह समन्वय उनकी कृतियों में नहीं हो पाया है।

अब हम उन दार्शनिकों का विचार करेंगे जो भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के आचार्य रहे हैं और जिन्होंने मायावाद का नया मूल्यांकन दार्शनिक या बौद्धिक स्तर पर किया है। इन लोगों ने मायावाद को किसी सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से नहीं देखा। इसलिए इनका मूल्यांकन सम्प्रदाय-निरपेक्ष है। पुनश्च, इन सभी लोगों पर पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव पड़ा है। इस कारण इन्होंने मायावाद का मूल्यांकन प्रायः पाश्चात्य दर्शन के आलोक में किया है। इसके फलस्वरूप इनके मूल्यांकन में एक नयी धारा विकसित हुई जिसका यथोचित विश्लेषण अपेक्षित है।

१. डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त--

(क) आपत्तियां

डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त आधुनिक भारतीय दार्शनिक हैं । उनका अपना दर्शन (Dependent emergence) परम्परावाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है । उन्होंने पांच भागों में भारतीय दर्शन पर वृहद् इतिहास अंग्रेजी में लिखा है जिसका हिन्दी में अनुवाद भी हो गया है । उनकी अभिरुचि आरम्भ में विशेषत: सांख्य और योग में थी । अतएव उन्होंने अद्वैतवाद के खण्डन को महत्व दिया है । मायावाद पर उन्होंने मुख्यत: चार आक्षेप लगाये हैं --

(i) शंकराचार्य ने माया के पक्ष में कोई युक्ति नहीं दी है । वे उसे एक मान्यता के रूप में ही ग्रहण करते हैं[१] ।

(ii) शंकराचार्य समस्त सृष्टि को और उसके कर्ता ईश्वर को भ्रम मानते हैं[२] किन्तु साथ ही साथ वे सृष्टि को व्यावहारिक सत् भी मानते हैं और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं । इस प्रकार मायावाद उनके ईश्वरवाद से सामंजस्य नहीं रखता है । यदि मायावाद सही है, तो ईश्वरवाद गलत है और यदि ईश्वरवाद सही है तो मायावाद गलत है ।

(iii) आत्मा चित् है और मायाविषयभूत है । किन्तु विषयभूत माया का

---

१. 'S'ankara never tries to prove that the world is Māyā, but accepts it as indisputable.' ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग-१, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, द कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, तृतीय संस्करण, १९५१, पृ० ४३५-३६

२. 'All creation is illusory and so the creator is also illusory'. वही, ४३८-३९

कोई सम्बन्ध आत्मा से नहीं बताया जा सकता क्योंकि वह सम्बन्ध संयोग या समवाय हो सकता है किन्तु यहाँ दोनों नहीं है । इन दोनों के अतिरिक्त किसी तीसरे सम्बन्ध की कल्पना संभव नहीं है[3] ।

(iv) माया तत्व अन्यत्व से अनिर्वचनीय है और साथ ही साथ सदसद्-विलक्षण भी है । किन्तु ऐसे अनिर्वचनीयत्व या विलक्षणत्व की अवधारणा नहीं की जा सकती है[4]।

(ख) आपत्तियों का समाधान

(i) यह ठीक है कि शंकराचार्य ने माया के पक्ष में कोई युक्ति नहीं दी है परन्तु उनके अनुयायी मधुसूदन सरस्वती आदि ने माया के पक्ष में अनेक युक्तियां प्रस्तुत की हैं । पुनः, यदि शंकराचार्य माया को एक मान्यता के रूप में ही लेते हैं तो वह अद्वैतमतानुसार ही है । उसमें विरोध कहाँ है ?

(ii) द्वितीय आपत्ति के समाधान में कहा जा सकता है कि ब्रह्म और ईश्वर का सम्बन्ध मूल्यमीमांसात्मक है । दोनों एक ही तत्व हैं । अतः ईश्वर सत् है और माया का उससे सामंजस्य है । माया ईश्वर की एक शक्ति है और यह शक्ति भी मूल्यात्मक प्रत्यय है । पर और अपर मूल्य में किसी प्रकार का विरोध नहीं है । सत्, असत्, कारण, आदि मूल्यमीमांसात्मक प्रत्यय हैं, न कि

---

३. '... .it is not possible to imgine any kind of connection between consciousness and its objects, for it can neither be contact nor inherence and apart from these two kinds of connections we know of no other.'

वही, पृ० ४४७-४८

४. वही, पृ० ४४३-४४

सृष्टिविज्ञानात्मक । इस कारण न तो जगत् भ्रम है और न उसका कर्ता ईश्वर ही भ्रम है । जगत्, ईश्वर, ब्रह्म,ये तीनों मूल्यों के तारतम्य में हैं ।[४]

(iii) तृतीय आपत्ति के समाधान में कहा जा सकता है कि आत्मा और विषयभूत माया का सम्बन्ध तादात्म्य-सम्बन्ध है । मायिक वस्तुओं या माया का ब्रह्म से तादात्म्य है । दोनों में समवाय और संयोग सम्बन्ध की खोज करना व्यर्थ है । मायिक वस्तुयें ब्रह्म के बिना ग्राह्य या ज्ञेय नहीं हो सकती हैं । इसलिए ब्रह्म को उनकी आत्मा कहा जाता है । मूलरूप में तादात्म्य सम्बन्ध ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध है । इसे अभेद सम्बन्ध नहीं समझना चाहिए।

(iv) ऐसा लगता है डा० दासगुप्त न तो तत्त्व और सत् में कोई भेद करते हैं और न अन्यत्व और असत् में । परन्तु यह उनकी भूल है । फिर,अवधारणा न कर पाना किसी वस्तु के अभाव का सूचक नहीं है, क्योंकि वह वस्तु एक संभावना भी हो सकती है । पुनश्च, असत् विलक्षणत्व तत्त्व-अन्यत्व-अनिर्वचनीय से अलग है । तत्त्व-अन्यत्व-विलक्षण कोई चीज़ नहीं है । इस प्रकार डा० दासगुप्त की आपत्तियां निराधार हैं ।

२. प्रो० रासबिहारी दास

(क) आपत्तियां

आधुनिक युग में प्रो० रासबिहारी दास ने अद्वैतवेदान्त पर Introduction To Śaṁkara और The essentials of Advaitism

---

४. विशेष जानकारी के लिए देखिए 'द वेदान्त आफ शंकर' रामप्रताप सिंह, भारत पब्लिशिंग हाउस, अमृतसर प्रथम संस्करण, १९४९ ।

नामक दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के साथ-साथ अनेक गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखे हैं । निबन्धों में बहुचर्चित निबन्ध १९३३ में लूजक एण्ड कम्पनी लंदन से प्रकाशित `अज्ञान` नामक पुस्तक का निबन्ध है । Introduction To S'ankara में शारीरिक भाष्य की चतुःसूत्री एवं तर्कपाद की व्याख्या है । किन्तु इसके आमुख में उन्होंने अद्वैतवेदान्त पर अनेक आपत्तियां उठायी हैं । उन्हीं आपत्तियों को हम यहां प्रस्तुत करते हैं --

शांकरवेदान्त में ब्रह्म ही एक और अद्वितीय सत् है । अतः जगत् असत् है । किन्तु अद्वैतवेदान्त की सबसे बड़ी कठिनाई इस असत् की व्याख्या करना है । यद्यपि सत् की तुलना में जगत् को असत् कहा जा सकता है तथापि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है । वास्तव में यह विलक्षण जगत् तत्काल ही असत् नहीं वरन् सत् प्रतीत होता है[1]। साधारणतः हम समझ नहीं पाते हैं कि कैसे जो नहीं है उसका आभास हो सकता है ।

पुनश्च, शंकरोत्तर अद्वैतियों ने व्यक्तिगत अज्ञान और जागतिक अज्ञान में भेद किया है । व्यक्ति का अज्ञान उसके द्वारा दृश्य भ्रम की व्याख्या करता है । वास्तव में हम एक सामान्य जगत् में विश्वास करते हैं किन्तु यह जगत् भ्रम है और व्यक्तिविशेष तक सीमित न होने वाले अज्ञान की अपेक्षा करता है । अज्ञान आत्मपूर्ण सत्ता नहीं है और ऐसे अज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती जो किसी से सम्बन्धित न हो । चूंकि जागतिक अज्ञान

---

१. '.....But actually the world of difference and distinction does not immediately appear to be false, but comes to us as real.' इन्ट्रोडक्शन टू शंकर, रासविहारी दास, के० एल० मुखोपाध्याय फर्म, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९६८ पृ० (ii) तथा `अज्ञान` में प्रो० रासविहारी दास का लेख, पृ० १०४-७

व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित नहीं है, अत: उसे ईश्वर से सम्बन्धित होना चाहिए। परन्तु यह कहना कि अज्ञान ईश्वर से सम्बन्धित है, ईश्वर को अज्ञानी बनाना है और साथ ही साथ यह असंगत भी है क्योंकि ईश्वर पूर्ण ज्ञानी एवं सर्वज्ञ है। अत: ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञान का अर्थ जगत्-भ्रम को उत्पन्न करने वाले के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

पुनश्च, अद्वैतवेदान्त के अनुसार सारा जगत् भ्रम मात्र है। परन्तु यदि प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राप्त हमारा सारा इन्द्रियानुभविक ज्ञान जगत् से सम्बन्धित है और जगत् भ्रम है तो हमारा सारा इन्द्रियानुभविक ज्ञान भी नि:सन्देह भ्रामक ही होगा और उस स्थिति में व्यावहारिक जीवन ही असंभव हो जायेगा। किन्तु जगत् को भ्रम कहना जगत् को वास्तव में भ्रम मानना नहीं है। जीव और ब्रह्म के एकत्व का अनुभव किये बिना जगत् को भ्रम नहीं कहा जा सकता है। अत: जब तक उस एकत्व का अनुभव नहीं होता तब तक इन्द्रियानुभविक ज्ञान में विश्वास करना ही होगा। अद्वैती भी ब्रह्मज्ञान न होने तक इन्द्रियानुभविक ज्ञान को व्यावहारिक कार्यों के लिए पूर्णत: वैध मानते हैं। परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या साधारणत: सत् समझा जाने वाला जगत् ब्रह्मज्ञान होने पर असत् अथवा मिथ्या हो जायेगा? उत्तर यह है कि साधारण भ्रम में हम जानते हैं कि भ्रामक विषय जहाँ दिखलायी पड़ता है वास्तव में वहाँ उसका कोई अस्तित्व किसी भी समय में नहीं है। अत: यदि हम ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करते हैं तो भी हम उसी समय जगत् के दृश्य होने पर भी यह विश्वास नहीं कर सकते कि जगत् सत् है। अत: स्पष्ट है कि यदि अद्वैतियों पर जोर डाला जाय तो उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत् के दृश्य होने पर भी उसका अस्तित्व नहीं है। वास्तव में जगत् का अस्तित्व भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में नहीं है। अत: मायावाद जब कहता है कि जगत् व्यावहारिक सत् है तो यह मात्र प्रौढ़िवाद है अर्थात् साधारण जन के विश्वासों की स्वीकृति

मात्र है[७]। उसका कोई दार्शनिक महत्व नहीं है। इस कथन में कोई औचित्य नहीं है कि मात्र परमसत्ता की दृष्टि से जगत् असत् अथवा मिथ्या है। अतः इस सम्बन्ध में प्रत्येक दृष्टिकोण धोखा देने वाला है और सत् को निश्चित करने में असमर्थ है[८]।

पुनश्च, अद्वैतवेदान्तियों ने चैतन्य ब्रह्म के द्वारा दृश्य जगत् की जो व्याख्या की है वह मूलतः कल्पना पर आधारित होने के कारण सन्तोषजनक नहीं है। जगत् की व्याख्या में ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता का होना आवश्यक है जिससे विषयगत आभास संभव हो सके। यदि एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता है तो सब कुछ ज्ञान में विलीन हो जायेगा और कुछ भी शेष नहीं रहेगा। यही कारण है कि शांकरवेदान्तियों ने उपर्युक्त विषयगत् आभास की व्याख्या करने के लिए माया-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ज्ञान-विरुद्ध होने के कारण माया वास्तव में ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि माया अज्ञान एवं भ्रम का सिद्धान्त है। यह ब्रह्म को आवृत कर नानात्व का प्रदर्शन करती है। यद्यपि यह भाव नहीं है फिर भी यह अभाव भी नहीं है क्योंकि यदि माया अभाव है तो यह किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकती। अद्वैती माया और जगत् की व्याख्या करते समय सत् और असत् को उनके मूल अर्थ में लेते हुए मध्याभाव नियम (law of excluded middle) जिसके अनुसार कोई भी वस्तु या तो सत् है या असत् और इन दोनों से भिन्न कुछ नहीं है,

---

७. '......so I am persmaded that it is merely as a concession to common-sense that the present practical reality of the world is granted.'

इंट्रोडक्शन टु शंकर, पृ० (xii)

८. वही, पृ० (xii)

को अस्वीकार कर देते हैं।[९] अतः स्पष्ट है कि माया-सिद्धान्त के द्वारा भी अद्वैती इन्द्रियानुभविक जगत् की सन्तोषजनक व्याख्या करने में असफल हैं।[१०]

(ख) आपत्तियों का समाधान

प्रो० रासविहारी दास की उपर्युक्त व्याख्या एक भ्रम पर आधारित है। माया को अनिर्वचनीय मानते हुए भी वे उसका तादात्म्य असत् से करते हैं जो स्पष्टतः अद्वैतवेदान्त के प्रति उनका अन्याय है। माया असत् नहीं है। वह असत् से विलक्षण है। उसकी आवश्यकता ठीक उन्हीं कारणों से है जिन कारणों से प्रो० दास बाह्य जगत् की सत्ता के लिए किसी विषयगत सत्ता को मानते हैं। प्रश्न केवल इस बात का है कि जो विषयगत सत्ता इस प्रकार अनुमानित की जायेगी क्या उसकी सार्थक कल्पना हो सकती है? और क्या उस जगत्कारण पर सभी बाह्यार्थवादियों का मतैक्य संभव है? यदि हाँ, तो मायावाद गलत है। यदि नहीं, तो मायावाद अनिवार्य है। अद्वैत-वेदान्तियों ने अपने खण्डनसाहित्य में द्वैतवाद के विरोध में अथवा न्यायवैशेषिक की पदार्थ-मीमांसा के विरोध में उपर्युक्त परवर्ती पक्ष का समर्थन किया है। इसीलिए उसको माया कहा जाता है।[११] इसको देखते हुए अद्वैतवेदान्त को दर्शन न मानना दृष्टिहानि का अनिष्ट प्रसंग है जिसमें प्रो० दास पड़ गये हैं।

---

९. वही, पृ० (XXi-XXii)

१०. '- - - I wish merely to pointout that even with this (Māyā) theory the Advait do not really succeed in providing a satisfactory explanation of the world of experience." वही, पृ० (XXii)

११. द नेचर आफ सेल्फ, ए० सी० मुकर्जी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९५४, पृ० १४८ तथा कंटेम्पोररी इण्डियन फिलासफी, स०, एम० चटर्जी, लन्दन १९७३ में डा० टी० एम० पी० महादेवन का लेख द्रष्टव्य

पुनश्च, मायावाद को प्रौढ़िवाद कहना भी ठीक नहीं है। यह 'एक और अद्वितीय वस्तु' इस अद्वैतवाद का एक तार्किक उपप्रमेय है। प्रौढ़िवाद वह मत होता है जिसे कोई दार्शनिक मानता है परन्तु जो उसके दर्शन से तर्कतः सिद्ध नहीं होता है। जगत् को व्यावहारिक सत् मानना मायावाद या अद्वैतवाद का एक आवश्यक सिद्धान्त है। अतः उसे प्रौढ़िवाद नहीं कहा जा सकता है।

३. प्रो० कोकिलेश्वर शास्त्री

(क) आपत्तियाँ

प्रो० कोकिलेश्वर शास्त्री ने शंकराचार्य के मायावाद की एक नवीन व्याख्या की है जिसके अनुसार माया असत् नहीं है और जगत् के बारे में शंकराचार्य का मत यथार्थवादी है। स्पष्ट है कि अभी तक जिन लोगों ने माया का खण्डन किया है वे मानते हैं कि माया सत् नहीं है। परन्तु यद्यपि उनका प्रस्थान बिन्दु सही है तथापि उनके निष्कर्ष अत्यन्त भ्रामक हैं। माया असत् नहीं है। इस सत्य दृष्टिकोण से वे निष्कर्ष निकालते हैं कि माया सत् है। परन्तु अद्वैतवादी इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि माया सदसद् विलक्षण है। विलक्षणत्व को न समझकर प्रो० शास्त्री ने अद्वैतवेदान्त के माया की जो व्याख्या की है वह वास्तव में व्याख्या न होकर एक आपत्ति है। आश्चर्य है कि उनके समकालीन भारत विद्याविशारदों ने उनके ग्रन्थ की बड़ी प्रशंसा की है, यद्यपि तात्त्विक दृष्टिकोण से उनका ग्रन्थ An Introduction To Advaita Philosophy प्रशंसा का पात्र नहीं है और वह अद्वैतवेदान्त का गलत प्रचार करता है। किन्तु इसको सिद्ध करने के लिए हम पहले उनकी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे जिन्हें हम प्रच्छन्न आपत्ति समझते हैं।

प्रो० शास्त्री का कहना है कि शंकराचार्य के भाष्यों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने एक दूसरे से पृथक् एवं अपनी-अपनी

विशेषताओं से युक्त तीन प्रकार के विषयों का उल्लेख किया है । शश-विषाण, वन्ध्या-पुत्र, आकाश-कुसुम आदि प्रथम श्रेणी के विषय हैं । इन विषयों के लिए `अलीक` पद और सामान्य `असत्` पद का प्रयोग किया गया है । रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, मरु-मरीचिका, गगन-मालिन्य आदि द्वितीय श्रेणी के विषय हैं । इन विषयों के लिए कभी-कभी `असत्` पद का प्रयोग किया गया है । तृतीय एवं अन्तिम श्रेणी में वे विषय आते हैं जो दृश्य जगत् के विषयों द्वारा निर्मित हैं जैसे अपने सम्पूर्ण नानात्वरूप में नामरूप, विकार आदि ।

इन तीनों श्रेणियों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि अन्तिम दो, जहां तक उनमें निहित अधिष्ठान का सम्बन्ध है, परस्पर साम्य रखते हैं परन्तु प्रथम से पूर्णत: पृथक् हैं । अत: यह अनिवार्य रूप से सिद्ध होता है कि यदि प्रथम श्रेणी के विषय असत् अथवा मिथ्या हैं (जैसा कि शंकराचार्य मानते हैं) तो निहितार्थ (implication) से अन्य दोनों श्रेणी के विषय सत्य होंगे[१२] । अत: शंकराचार्य के अनुसार शश-विषाण, आकाश-कुसुम आदि विषय ही असत् अथवा मिथ्या हैं क्योंकि न तो इनका कोई व्यावहारिक महत्व है और न कोई पूर्ववर्ती आधार । किन्तु इसी तर्क के आधार पर शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्प, मरुमरीचिका आदि को असत् अथवा मिथ्या नहीं कहा जा सकता क्योंकि सर्प को उसमें निहित अधिष्ठान से अथवा रजत को शुक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता है ।

---

१२. '.... It necessarily follows, therefore, that if you call the first class unreal or false (as S'ankara has justly called them), the other two classes must, by implication, be real.'
एन इन्ट्रोडक्शन टु अद्वैतवेदान्त, कोकिलेश्वर शास्त्री, युनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, १९२६, पृ० १२८

पुनश्च, शंकराचार्य, शुक्ति-रजत; रज्जु-सर्प आदि की असत्यता से अधिक जोरदार शब्दों में इन्द्रियानुभविक विषयों की सत्यता की प्रकाशन करते हैं --

'भूतादिविज्ञानकार्यापेक्षया, परमार्थविकारादि सत्यं' (तै० भाष्य २.६)

अन्यत्र भी, वे जगत् के मूर्तामूर्तपंचभूत को सत्य और उनमें अन्तर्निहित ब्रह्म को सत्यस्य सत्यं कहते हैं । देखिए --

'पंचभूतानां सत्यानां स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते' (बृ०भा० २.३.१)
'नेति-नेति शब्दाभ्यां-सत्यस्य सत्यं निर्दिधिक्षितं' (बृ०भा० २.३.६)

यहां प्रश्न है कि शंकराचार्य आनुभविक विषयों को असत् अथवा मिथ्या कैसे कह सकते हैं ? उनके अस्तित्व को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं क्योंकि उनका सिद्धान्त है 'जिसका पूर्ववर्ती कारण है, वह अनस्तित्ववान् नहीं हो सकता है क्योंकि अभाव की उत्पत्ति वास्तविक भाव से नहीं होती है । चूंकि हम कारण (ब्रह्म) को उसके कार्यों से पृथक् नहीं जान सकते हैं, अतः उसके कार्यों को सत्य ही मानना पड़ता है[१३]। इस प्रकार शंकराचार्य के दर्शन में व्यावहारिक विषय सत् हैं । प्रायः लोग अल्पज्ञता में इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके दर्शन में जगत् मिथ्या है । वास्तव में, परमार्थ सत्य (ब्रह्म) की तुलना में ही व्यावहारिक विषयों को असत् कहा जा सकता है जिसका अर्थ है-- आपेक्षतया सत् (Relatively real)[१४]।

पुनश्च, छांदोग्योपनिषद् में मृत्तिका और घट का दृष्टान्त जगत् के सम्बन्ध में दिया गया है । किन्तु इस दृष्टान्त की व्याख्या करने पर एक बार ऐसा लगता है कि जगत् और उसके विकारों को असत् एवं मिथ्या मानना

---

१३. '....As we can know nothing of the causal Reality(i.e. Brahman) apart from its effects upon us, the effects, the products must be real.' वही, पृ० १३०

१४. वही, पृ० १३०

असंभव है । मृत्तिका और घट के दृष्टान्त में घट अन्तिम विकृति के रूप में मृत्तिका में पहले से ही विद्यमान है अर्थात् भावी साध्य कारण अधिष्ठान के वास्तविक स्वरूप में विद्यमान है । अतः यह कहना ठीक नहीं है कि वह कारण में अविद्यमान है । इसे अस्वीकार करना असत्कार्यवाद को स्वीकार करना है । जब तक भावी साध्य का अनुभव नहीं हो जाता, कारण स्वरूप में इसे विद्यमान मानना ही पड़ेगा ।

परिवर्तन के दो पक्षों का सम्बन्ध है । सम्बन्धित होने के लिए दोनों पक्षों का सत् होना आवश्यक है । इनमें यदि एक भी असत् है तो दूसरा सत् नहीं हो सकता है । मृत्तिका और घट के दृष्टान्त में मृत्तिका और घट दोनों सत् हैं । इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् दोनों को सत् मानना आवश्यक है । जगत् को असत् मान लेने पर ब्रह्म भी असत् हो जायेगा क्योंकि कार्य कारण की अनिवार्य अभिव्यक्ति है । जगत् को शंकराचार्य उसी अवस्था में असत् कहते हैं जब कारणस्वरूप को उससे उत्पन्न कार्यों में विद्यमान न माना जाय । यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि कारण कार्य में समाप्त हो जाता है अथवा कार्य कारण से सर्वथा भिन्न हो जाता है, तभी जगत् को असत् कहा जा सकता है । किन्तु ऐसा मानने का अर्थ है कि कारण अन्य वस्तु है और केवल विभिन्न परिणामों का संघात है[६५]।

पुनश्च, ब्रह्म का अपना स्वरूप होता है । उस स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए ब्रह्म जगत् की सृष्टि करता है जो निम्नतम से उच्चतम अवस्था की ओर निरन्तर गतिमान रहता है । यह विकास इसलिए संभव हो पाता है क्योंकि प्रत्येक अवस्था के मूल में पूर्णसिद्ध आत्मा निहित है जो क्रमशः स्वयं को उन अवस्थाओं एवं परिणामों में व्यक्त करती है । किन्तु श्रुतियों में

---

६५. वही, पृ० १७८

ब्रह्म को एक एवं अद्वितीय कहा गया है । प्रश्न है कि श्रुति और शंकराचार्य का विरोध कैसे दूर हो ? शंकराचार्य ने इस विरोध का निम्न प्रकार समाधान किया है —

(i) जो अविद्या के प्रभाव में ब्रह्म को पूर्णतः जगत् में परिवर्तित मान लेता है, उसके लिए जगत् ही एकमात्र सत्ता है । अतः ऐसे लोगों के लिए एक और अनेक में किसी सम्बन्ध की समस्या नहीं है[१६]।

(ii) किन्तु जो इस वास्तविकता को समझ लेते हैं कि ब्रह्म परिवर्तनों के नानात्व से प्रभावित या विकृत नहीं होता, उनके लिए जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है । अतः एक और अनेक में कोई विरोध नहीं है[१७]।

पुनश्च, स्वयं शंकराचार्य के अनुसार सूत्रकार ने कार्यप्रपंच को अस्वीकार नहीं किया है । सूत्रकार ने विवर्तवाद को प्रधान मूल्य एवं परिणामवाद को स्वीकार करते हुए उसे गौण मूल्य माना है और उसे विवर्तवाद के अधीन कहा है[१८]। माण्डूक्य कारिकाभाष्य में भी शंकराचार्य स्वीकार करते हैं

---

१६. वही, पृ० १७३ और बृ० भा० ३.५.१

१७. वही, पृ० १७३-७४

१८. 'The author of the Brahma-Sūtras himself saw no reason for rejecting the manifested changing world. The Sūtrakāra adopts the Vivarta-Vāda as of supreme value; but he has also retained Pariṇāma as of subordinate value and entirely dependent on the former."

वही, पृ० १७४-७५ और वेदान्त भाष्य, २. १. ४

कि द्वैत और अद्वैत में कोई विरोध नहीं है[१९]। और शंकराचार्य के मत का विस्तार करते हुए आनन्दगिरि का कहना है कि व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टिकोणों में वास्तव में कोई विरोध नहीं है[२०]। पंचदशी में विद्यारण्य का कहना है कि शांकरवेदान्त में परिणामवाद और विवर्तवाद में कोई असामंजस्य नहीं है[२१]। अत: परिणामवाद को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है। परिणामवाद और विवर्तवाद साथ-साथ रह सकते हैं[२२]।

(ख) आपत्तियों का निराकरण

प्रो० कोकिलेश्वर शास्त्री की आपत्तियां उनकी भयंकर नासमझी पर आधारित हैं। उन्होंने एक तो जैसा कि ऊपर कहा गया है सदसद् विलक्षणत्व को नहीं समझा और जो असत् नहीं है उसको झट से सत्ववादी में सत् मान लिया है। दूसरे, उन्होंने गौडपाद, शंकर, आनन्दगिरि और विद्यारण्य के अविवाद सिद्धान्त का गलत अर्थ किया है। इन आचार्यों ने

---

१९. 'In his commentary on the Māndūkyakārikā, Śaṅkara himself expressly tells us that there is really no conflict between the Dvaita and Advaita......'
वही पृ० १७५ और मा० का० भाष्य, ३.१७-१८

२०. 'Ānandgiri also in elaborating the idea of Śaṅkara has by an illustration shown that no conflict really arises between the two standpoints—the empirical truth and the transcendental truth.'
वही, पृ० १७५

२१. 'Vidyaranya in his Pañchadaśī in explaining the Vivarta-Vada, has shown that in Śāṅkara Vedānta the Pariṇām-Vāda is not incompatible with the Vivarta-Vada.' वही, पृ० १७५-७६ और पंचदशी, १३.५१ टीका

२२. 'Thus we find that no need arises to abolish Pariṇām. Both the Pariṇām and Vivarta can exist compatibly together.'
वही, पृ० १७६

दिखलाया है कि अद्वैतवेदान्त का विरोध किसी द्वैतवादी दर्शन से नहीं है[23]। उनके इस मत को ठीक से न समझकर प्रो० शास्त्री ने उसका अर्थ यह लगाया कि व्यावहारिक सत् और पारमार्थिक सत् एक ही है या अभिन्न है। उन्हें स्मरण होना चाहिए था कि व्यावहारिक सत् और पारमार्थिक सत् में बाध सामानाधिकरण्य है। फिर तीसरे, यदि उनकी व्याख्या सही है तो अद्वैतवाद पर द्वैतापत्ति आ जाती है जिससे अद्वैतवाद दूषित हो जाता है। अन्त में, एक और अनेक की दार्शनिक समस्या को भी उन्होंने नहीं समझा है और जगत् को अनेक मानते हुए भी वेद जगत् के अनेकत्व की व्याख्या नहीं कर सके हैं। दार्शनिक दृष्टि से जगत् के अनेकत्व की व्याख्या में ही एक और अनेक की समस्या उठती है, न कि ब्रह्म के विवेचन में। अतः इन युक्तियों के आधार पर प्रो० शास्त्री की व्याख्यायें निराधार हैं। उन्होंने जिन उद्धरणों को दिया है उनका ठीक से अर्थ नहीं किया है। उनको तोड़-मरोड़ कर अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न किया है। उनकी सारी व्याख्या में एक ही बात सार्थक लगती है और वह यह है कि विवर्तवाद प्रधानमुख्य है तथा परिणामवाद गौणमुख्य। इस मुख्यानुसंधान का विकास डा० रामप्रताप सिंह ने किया और उसके आधार पर उस कारण की भी व्याख्या मुख्यमीमांसात्मक की जिसको प्रो० शास्त्री सत्ता-मीमांसात्मक अर्थ में लेते हैं। अतः उनके विचारों में एक भयंकर असंगति है। उन्हें जब जो अर्थ अपने पक्ष में उपयोगी जंचता है, उसका बिना गम्भीर विचार किये वे प्रयोग करते रहते हैं। उनकी व्याख्या में दार्शनिकता का पुट कम और उद्धरणों का पक्षपातपूर्ण वर्णन अधिक है।

४. प्रो० निकुंज विहारी बनर्जी

प्रो० निकुंज विहारी बनर्जी आधुनिक भारत के एक

---

२३. श्री शंकर अद्वैत फिलासफी, कमलाकर पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७४ पृ० २९९-३०९

यथार्थवादी विचारक हैं। उन्होंने Concerning Human Understanding नामक एक पुस्तक १९५८ में लिखी और उसमें अपनी यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा का व्याख्यान किया। उनके व्याख्यान में यद्यपि सीधे मायावाद का खण्डन नहीं किया गया है तथापि उसमें मायावाद का प्रच्छन्न खण्डन है। वे मानते हैं कि ज्ञान में विषयी और विषय ये दो तत्व सदैव रहते हैं और दोनों एक दूसरे पर इस प्रकार आश्रित रहते हैं कि इनमें से किसी एक का अन्तर्भाव दूसरे में नहीं किया जा सकता या दोनों का अन्तर्भाव किसी निरपेक्ष सत् में नहीं किया जा सकता। फिर, वे वेदान्त की ज्ञानमीमांसा को प्रागनुभविक तत्ववादीसिद्धान्त (a priori metaphysical theory) मानते हैं और कहते हैं कि यह ज्ञान परिस्थिति की सम्यक् व्याख्या नहीं कर सकता है।[२४] इस प्रकार वे प्रत्ययवाद के विरोध में यथार्थवाद को मानते हैं और विषय की सत्ता को स्वतंत्र वस्तुओं के रूप में स्वीकार करते हैं। फिर, वे इस साधारण लोकमत को जगत् की आध्यात्मिक व्याख्या के खण्डन के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[२५]

स्पष्ट है कि अपने इन मतों में प्रो० बनर्जी मायावाद का खण्डन कर रहे हैं। पुनः, उनके मत से तत्वमीमांसा का कार्य जगत् की व्याख्या करना नहीं है। जगत् की व्याख्या करना विज्ञान का कार्य है।[२६] परन्तु वे मूल्यमीमांसा को तत्वमीमांसकों का अध्ययन विषय मानते हैं और मूल्यों के

---

२४. कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग, निकुंज विहारी बनर्जी, जार्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन, प्रथम संस्करण, १९५८, पृ० ३०-३२

२५. वही, पृ० ६४

२६. वही, पृ० २२६

अनुसंधान में शंकराचार्य के अविद्या-सिद्धान्त को उपयोगी बताते हैं।[२७]

(ख) आपत्तियों का समाधान

यदि प्रो० बनर्जी अपने मूल्यानुसंधान को थोड़ा और विकसित करते तो उन्हें सापेक्षतावाद से आगे निरपेक्षतावाद की ओर जाना पड़ता, यथार्थवाद को छोड़कर आदर्शवाद को स्वीकार करना पड़ता क्योंकि जैसा डा० रामप्रताप सिंह ने दिखलाया है कि मायावाद भी एक निम्नतर मूल्य-मीमांसा है जिसे पार होकर के ही सच्चिदानन्दस्वरूप परम ब्रह्म या कहें परमूल्य की प्राप्ति की जाती है। जिस ज्ञान में वे विषय और विषयी का होना अनिवार्य मानते हैं उसे शंकराचार्य भी स्वीकार करते हैं।[२८] किन्तु यहाँ विषय-विषयीभाव मायावाद को सिद्ध करता है क्योंकि विषय आगन्तुक

---

२७. '.......the highest aim of man's empirical life is the undoing of a thing, vis.,the effect of Ignorance rather than the doing of anything. In other words, it is negative rather than positive.That selves are essential to one another is an accomplished fact. And, there is no going beyond this fact, and,consequently,there is noting to achieve beyond it. If selves be not, as a matter of fact, essential to another, nothing that is done can render any of them essential any other. But, on the other hand, it is fact that men are generally prevented, due to the influance of Ignorance, from feeling themselves as being essential to one another. And so long as they are dominated by Ignorance, their doing anything is as good as, or rather vorse than, their not doing anything at all. This is precisely the reason why the highest aim of human life is negative [redacted] in the sense in question.' वही, पृ० २६१-[illegible]

२८. भारतीय दर्शन, उपोद्घात

है और विषयी स्वयंसिद्ध । पुनश्च, विषयी से भिन्न या अन्य विषय की कल्पना नहीं की जा सकती है । इसलिए विषय का विषयी से तादात्म्य है । इस तादात्म्य को शंकराचार्य मानते हैं और कहते हैं कि इस तादात्म्य से पृथक् यदि कुछ है तो वह माया है क्योंकि उसकी कोई सार्थक कल्पना नहीं की जा सकती है[28]। चेतना या विषयी जिस विषय की ओर सदैव उन्मुख रहता है वह विषयी की ही एक अभिव्यक्ति है । यह अभिव्यक्ति आत्मा का स्वभाव है । उससे भिन्न जो कुछ है वह माया है । यदि प्रो० बनर्जी जगत् को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखते हैं तो वह उनकी अविद्या दृष्टि है और यदि वे जगत् को ब्रह्मरूप या ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं तो वह उनकी विद्या दृष्टि होगी । इस दूसरी दृष्टि का ही विकास अद्वैतवेदान्त में हुआ है । अतः अविद्या-सिद्धान्त को उपयोगी मानना और मायावाद का खण्डन करना, ये दोनों विरोधी प्रवृत्तियां हैं जो प्रो० बनर्जी के विचार में देखने को मिलती हैं । कुछ भी हो उनका मायावाद का खण्डन निराधार है ।

५- प्रो० के० सच्चिदानन्दमूर्ति

प्रो० के० सच्चिदानन्दमूर्ति अद्वैत की परम्परा से कुछ हटे हुए और यथार्थवादी विशिष्टाद्वैत की परम्परा के प्रति आकृष्ट होने वाले एक मौलिक विचारक हैं । उनकी महत्वपूर्ण कृति Revelation And Reason In Advaita Vedanta इसी यथार्थवादी भूमिका का विस्तार से स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है । इस ग्रन्थ में शांकरवेदान्त पर ऐसे अनेक आक्षेप किए गये हैं जिनका अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थों में समाधान उपलब्ध है और विशिष्टाद्वैत की भूमिका का उनके द्वारा काफी अच्छा स्पष्टीकरण प्राप्त होता है । वे मायावाद

---

२८. द नेचर आफ सेल्फ, ए० सी० मुकर्जी, पृ० १४४

पर निम्नलिखित आपत्तियां प्रस्तुत करते हैं --

शांकरवेदान्त के अनुसार मिथ्याभास का कारण माया है। परन्तु प्रश्न है कि माया का आश्रय क्या है, ब्रह्म या जीव ? शुद्ध चैतन्य माया से कैसे संपृक्त हो सकता है ? अथवा यदि माया या अविद्या जीव से संपृक्त है तो अद्वैत की स्थापना कैसे सम्भव है ? और यदि ब्रह्म के साथ माया अविद्या का सह-अस्तित्व है तो उसकी निवृत्ति कैसे संभव है ?

वाचस्पति मिश्र का कहना है कि अविद्या जीव से सम्बन्धित है और मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि चूंकि जीव और अविद्या अनादि हैं, अत: दोनों उसी प्रकार सम्बन्धित हैं जिस प्रकार घट में आकाश और आकाश में घट। प्रश्न है कि यदि घट नित्य है तो उसमें विद्यमान आकाश घट से मुक्त कैसे हो सकता है ? अद्वैती सम्भवत: यह कह सकते हैं कि घट की स्थिति परिवर्तित हो जाती है। अत: आकाश की पूर्व अवस्था समाप्त हो जाती है और एक नवीन अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। इस पर प्रो० मूर्ति का प्रश्न है कि क्या इस प्रकार जीव की परिवर्तित स्थिति उसे जीव नहीं रहने देगी ? क्या उसका जीवत्व इस स्थिति परिवर्तन से समाप्त हो जाता है ?[30]

पुनश्च, सुरेश्वर आदि के अनुसार ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय है। उनका कहना है कि ब्रह्म में विद्यमान अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को जीव से आवृत करती है। यद्यपि जीव ब्रह्म से अभिन्न है फिर भी वह अपने को पृथक् और सीमित मानता है। जीव को ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का ज्ञान होने पर अविद्या का आवरण नष्ट हो जाता है। अद्वैती अनादि अविद्या की

---

30. '......Will not the new portion so enclosed become a Jiva ?'
रैवेलेशन एण्ड रीज़न इन अद्वैतवेदान्त, के० सच्चिदानन्द मूर्ति,
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीयसंस्करण, १९७४, पृ० २५९।

सिद्धि इस प्रकार करते हैं --(१) 'अहम् अज्ञ:' से प्रतीत होता है कि निर्णायक कुछ वस्तुओं के विषय में अज्ञानी है, फिर भी उसे अपने अज्ञान का ज्ञान है। अत: अज्ञान और ज्ञान एक साथ रह सकते हैं और इस प्रकार अज्ञान ज्ञान का विरोधी नहीं है। (२) 'मैं अभी तक कुछ नहीं जानता हूं' जाग्रत के इस निर्णय से केवल अज्ञान का अनुभव होता है, न कि किसी वस्तु के अज्ञान का अनुभव। अत: अन्धकार, जो विषयों को आवृत करता है, जो प्रकाश से निवृत्त होता है, जो मात्र प्रकाश का निषेध नहीं है, की भांति अविद्या भी अनादि है। परन्तु वास्तव में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत उपर्युक्त निर्णय में अज्ञान और ज्ञान एक वस्तु नहीं है। अन्धकार का सादृश्य और प्रकाश द्वारा उसकी निवृत्ति असंगत है क्योंकि यहां प्रकाश में अन्धकार नहीं है जबकि अद्वैती मानते हैं कि ब्रह्म में अविद्या है[३१]।

यहां पुन: प्रश्न है कि अनादि माया-अविद्या का नाश कैसे सम्भव है क्योंकि उत्पन्न का ही नाश होता है? पुन:, कैसे और किसके द्वारा यह ज्ञात हुआ कि अविद्या का नाश हो सकता है? अद्वैत का अनुभव सीधे इन्द्रियों के साक्षी के रूप में नहीं होता है और इस प्रकार का अनुभव यदि किसी को होता भी है तो वह उसके विषय में कुछ भी कहने में असमर्थ है क्योंकि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'। यही कारण है कि इस समस्या के समाधान हेतु इष्टसिद्धिकार को यह स्वीकार करना पड़ा कि असंभाव्यता अविद्या का भूषण है। शंकराचार्य के अनुसार अनादि अविद्या की निवृत्ति ज्ञान से उसी प्रकार

---

३१. '......in the judgment cited as examples, the ignorance and the consciousness are not of the same thing, and it may be pointedout that the analogy of darkness and its removal by light is irrelevant because in light there is no darkness, while Advaitins say in Ātman there is nescience."

वही, पृ० २५१-५२

होती है जिस प्रकार अनादि घट का प्रागभाव घट के बन जाने पर नष्ट हो जाता है । प्रो० मूर्ति का कहना है कि यह अद्वैतियों का मात्र वाक् छल है । यह दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रागभाव निषेधात्मक है जबकि माया भावात्मक है।[३२]

पुनश्च, अद्वैतियों के पास इस प्रश्न का भी कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है कि जगत् का मिथ्यात्व सत्य है अथवा मिथ्या ? यदि मिथ्यात्व मिथ्या है तो जगत् सत् हो जायेगा और यदि मिथ्यात्व सत्य है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि ब्रह्म से भिन्न एक अन्य सत् सत्ता है । अद्वैतियों का कहना है कि 'वन्ध्या-पुत्र सुन्दर नहीं है' का अर्थ यह नहीं है कि वह काला है क्योंकि वन्ध्या-पुत्र की कोई सत्ता नहीं है । अतः यद्यपि मिथ्यात्व और सत्यत्व दोनों विरोधी हैं, फिर भी सत् का निषेध मिथ्यात्व का निश्चायक है । किन्तु यहां कहा जा सकता है कि यदि जगत् की स्थिति वन्ध्या-पुत्र के समान है तो अद्वैतियों के लिए इसकी सत्ता का निषेध करना व हास्यप्रद होगा । दूसरी ओर, वन्ध्या-पुत्र के असमान यदि जगत् सत् है तो उसके सत् का निषेध निरर्थक होगा।[३३]

---

३२. '.....This is quibbling g and the example is not apt, because 'prior non-existence'is negative, while Māyā is positive.'

वही, पृ० २५२

३३. '.....if the status of the world is similar to the barren-woman's son, it is ridiculous for the Advaitin to deny it reality. On the other hand, if the world is real unlike the barren-woman's son, then it is absured to deny it reality.'

वही, पृ० २५२-५३

अन्त में, शांकरवेदान्तियों के अनुसार जगत् न तो सत् है और न असत् । उनका आधार वाक्य यही है कि जब ब्रह्म का बोध होता है तो जगत् के सत् का बोध अपबाधित हो जाता है । डा० मूर्ति का कहना है कि जगत् का बोध कभी भी अपबाधित नहीं होता क्योंकि जब तक प्रत्यक्ष का अनुभव होता रहता है श्रुतियां अपबाधित नहीं हो सकती हैं और प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में हम श्रुतियों से कुछ भी ज्ञान नहीं सकते हैं।[३४]

(ख) प्रो० मूर्ति का समाधान

प्रो० के० सच्चिदानन्द मूर्ति ने बाह्यप्रत्यक्षवादियों और द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र (Twovalue logic) के आधार पर अविद्या और माया का खण्डन किया है और उस दृष्टि से उनका खण्डन सही है । परन्तु बाह्यप्रत्यक्षवाद और द्विमूल्यीयतर्कशास्त्र के अतिरिक्त भी अनुभव तथा बहुमूल्यीय तर्कशास्त्र, जिसका उपयोग अद्वैतवेदान्तियों ने अपने मायावाद की स्थापना में किया है, शेष है उस दृष्टि को प्रो० मूर्ति ने विचार नहीं किया है । इस कारण मायावाद का उनका खण्डन वास्तव में कोई खण्डन नहीं है । पुनश्च, अनुभववादी दृष्टिकोण से ज्ञान और सत्ता की समस्या का कोई हल नहीं निकला और इसने ह्यूम के संशयवाद को तथा कांट के दर्शन में दृष्टि के विरोधाभासों को जन्म दिया । ऐसी परिस्थिति में इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानकर या मौलिक प्रमाण मानकर अन्य प्रमाणों की उपेक्षा करना ठीक नहीं है ।

---

३४. '.....the cognition of the world is never sublated; for as long as perceptual experience lasts, scripture cannot sublate it,and when there is no perceptual experience, we cannot learn anything from scripture.'
वही, पृ० २५३

पुनश्च, प्रो० मूर्ति ने जीव की परिवर्तित स्थिति को भी दैशिक रूप में समझा जो ठीक नहीं है क्योंकि एक दैशिक वस्तु का दूसरी दैशिक वस्तु में बदलना परिवर्तन न होकर स्थानान्तरण है । जीवत्व का ब्रह्मभाव में स्थानान्तरण न होकर परिवर्तन होता है । यह परिवर्तन अदैशिक एवं अकालिक है । इस कारण प्रो० मूर्ति की इस प्रसंग में थोपी गयी आपत्ति असमीचीन है । पुनश्च, ज्ञान और अज्ञान और प्रकाश तथा तम के सम्बन्ध को जो उन्होंने दैशिक रूप में ही ग्रहण किया है उनका सम्बन्ध दैशिक न होकर तात्त्विक है, आकारिक न होकर प्राकारिक है, विशेष्यगत न होकर विशेषणगत है । अत: इस सम्बन्ध में भी उनकी जो शंकायें हैं, वे निर्मूल हैं ।

फिर, माया को भावात्मक मानना पता नहीं किस प्रकार प्रो० मूर्ति के मन में बैठ गया । यदि माया भावात्मक होती तो फिर अद्वैत ही नष्ट हो जाता है और द्वैतवाद हो जाता । सम्भवत: उन्होंने भावरूप अज्ञान को भावात्मक माया समझ लिया है । किन्तु यह समझ ठीक नहीं है । अज्ञान तो भावात्मक है क्योंकि उसकी प्रतीति और निरावृत्ति होती है किन्तु माया कथमपि अभाव नहीं है; शून्य नहीं है, असत् नहीं है । पुनश्च, अविद्या निवृत्ति और अविद्या निवर्तक के बारे में प्रो० मूर्ति ने वाक्यप्रत्ययवादी दृष्टि-कोण से विचार किया है और यह विचार व्यवहार जगत् के लिए ही ठीक है । पारमार्थिक अविद्यानिवृत्ति और पारमार्थिक अविद्या निवर्तक ज्ञान के बारे में वे दृष्टान्त या साम्यानुमान के द्वारा ही विचार करते हैं । किन्तु उन्हें अवगति होनी चाहिए कि ऐसे दृष्टान्त या साम्यानुमान की बहुत खींचातानी नहीं की जा सकती क्योंकि उनका उद्देश्य किसी एक बिन्दु का ही ज्ञान कराना है । यदि उन्हें दृष्टान्त ही लेना था तो कतकरजोवत् दृष्टान्त लेना चाहिए था जो अविद्या निवृत्ति के साथ-साथ अविद्या निवर्तक को अभिन्न कर देता है । रीठा का फेन कपड़े के मैल को नष्ट करते हुए स्वयं अपने को नष्ट कर देता है । इस प्रकार अविद्या बाह्य दृष्टि को नष्ट करते हुए स्वयं अपने को भी नष्ट कर देती है ।

पुन: इसी दृष्टान्त से जगत् के मिथ्यात्व के मिथ्यात्व की समस्या भी हल हो जाती है क्योंकि मिथ्या का मिथ्यात्व सत्य नहीं है। यह कहना कि जगत् का बोध कभी अपबाधित नहीं होता, सामान्य मानव के अनुभव के विपरीत है क्योंकि सुषुप्ति में सभी मनुष्यों को अनुभव होता है कि जगत् नहीं है। हम जगत् के सत्यत्व को इस प्रकार अपने अनुभव से नहीं किन्तु अन्धविश्वास से जानते हैं। आश्चर्य है कि इस अन्धविश्वास को प्रो० मूर्ति प्रामाणिक अनुभव मानते हैं। एक शब्द में, प्रो० मूर्ति की आलोचनाओं में कोई नवीनता नहीं है। उनकी आलोचनायें पिष्टपेषण मात्र हैं और उनका खण्डन अद्वैतियों ने बहुत पहले ही कर दिया है[35]। अत: प्रो० मूर्ति की सारी आपत्तियां निर्मूल हैं।

6-प्रो० दयाकृष्ण

(क) शंका

प्रो० दयाकृष्ण के अनुसार अध्यास अर्थात् एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अध्यारोपण भारतीय और पाश्चात्य सभी दर्शनों का सामान्य सिद्धान्त है। यदि भ्रम संभव है तो अध्यास की सत्ता है क्योंकि अध्यास भ्रम का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अध्यास केवल शांकरवेदान्त की ही विशेषता नहीं है[36]। यदि इसकी कोई विशेषता हो सकती है, जिसे अध्यास

---

35. 'The author does not offer any new point by way of criticism of Advaita Vedānta but simply finds satisfaction in repeating and piling up old and trite arguments which have been effectively refuted in Advaita works."
रिऐक्शन एण्ड रिव्यू इन अद्वैतवेदान्त की रामभाऊ पिंगले द्वारा समीक्षा, फिलासफिकल क्वाटर्ली, 1960, पृ० 200

36. 'Adhyāsa is not peculiar to S'aṁkara Vedānta'
फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट में प्रो० दयाकृष्ण का लेख 1965, पृ०243

माना जाता है, तो उसके स्वरूप के ही सम्बन्ध में हो सकती है । इस प्रकार अध्यास का स्वरूप प्रत्येक दर्शन में इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें किस अध्यास को मुख्य महत्व प्रदान किया गया है । इसके आधार पर ही अन्य अध्यासों की व्याख्या होती है । किस वस्तु का किस वस्तु पर अध्यारोपण होता है, इसी के द्वारा एक दर्शन में स्वीकृत अध्यास दूसरे दर्शनों से भिन्न किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, सांख्यदर्शन में जिसे अध्यास माना गया है, वह अद्वैतवेदान्त में अध्यास नहीं हो सकता क्योंकि सांख्य में दो स्वतंत्र तत्वों को माना गया है जबकि अद्वैतवेदान्त में अभेद को स्वीकार किया गया है और सभी प्रकार के भेदों का खण्डन किया गया है ।

इस प्रकार सांख्य और अद्वैतवेदान्त की मूल प्रतिपत्तियों से उनके अध्यास के स्वरूप का तार्किक निगमन किया जा सकता है । यदि पुरुष और प्रकृति पूर्णतः भिन्न हैं तो उनमें अभेद मानना अध्यास है और यदि आत्मा और प्रकृति अथवा विषयी और विषय में पूर्ण व अभेद है तो इन दोनों में किसी भी प्रकार का भेद मानना अध्यास होगा[३७]। इसमें पहला सांख्य-दर्शन का मत है और दूसरा अद्वैतवेदान्त का । सांख्य में अध्यास का रूप 'मैं यह हूँ' (I am this) है । यहाँ 'मैं' का अर्थ पुरुष और 'यह' का अर्थ प्रकृति है और अद्वैत का अध्यास ठीक इसके विपरीत होना चाहिए । भेद को स्वीकार न करने के कारण किसी भी रूप में भेद का कथन करना अध्यास होगा। अतः अद्वैतवेदान्त के अनुसार अध्यास का स्वरूप 'मैं यह नहीं हूँ' (I am not this) होना चाहिए । यहाँ 'मैं' का प्रयोग आत्मा के लिए और 'यह' का प्रयोग प्रकृति विषय अथवा ब्रह्म के लिए है ।[३८]

---

३७. वही, पृ० २४४

३८. "The Adhyāsa of Advaita Vedānta should thus be formulated as 'I am not this' where 'I' refers to the self, subject or Ātmā and 'this' to nature, object or Brahman."
वही, पृ० २४४

किन्तु शांकरवेदान्त में अध्यास उपरोक्त विवेचन के विपरीत है । शंकराचार्य जिस प्रकार अध्यास के स्वरूप की व्याख्या करते हैं वह अद्वैत की जैसी व्याख्या होनी चाहिए उसके विपरीत है।[३९] शंकराचार्य के अनुसार विषय और विषयी तम: प्रकाशवत् भिन्न हैं और दोनों में अभेद नहीं हो सकता है । इस प्रकार शंकराचार्य सभी प्रकार के अध्यास का मूल विषयी और विषय का अभेद मानते हैं।[४०] किन्तु यदि अद्वैत का मूल सिद्धान्त ही अभेद है तो शंकराचार्य इसे अध्यास कैसे मान सकते हैं ? अत: या तो शंकराचार्य अद्वैतवादी नहीं हैं या अद्वैत में अध्यास का जो तार्किक रूप होना चाहिए वह असंगत है । किन्तु दोनों विकल्प उपयुक्त नहीं हैं।[४१] इस प्रकार प्रो० दयाकृष्ण के मत में शंकराचार्य जिस प्रकार के अध्यास की व्याख्या करते हैं वह नि:सन्देह सांख्य का अध्यास है।[४२]

---

३९. '....The way Śaṁkara formulates the basic Adhyāsa seems to exact opposite of what logically, it ought to be.'

वही, पृ० २४४-४५

४०. 'It is quite clear that what Śaṁkara describes as the root form of all ignorance is the identification of the subject with the object in any of its forms and at any of its levels.'

वही, पृ० २४५

४१. '....Either Śaṁkara is not an Advaitin... or our logical deduction of what an Advaitic Adhyāsa ought to be is totally wrong. Either of the aternatives seems difficult to accept.'

वही, पृ० २४५

४२. '....It can hardly be doubted that the basic error or Adhyāsa with which Śaṁkara starts is sāṁkhyan in character.'

वही, पृ० २४६-४७

(ब) समाधान

प्रो० दयाकृष्ण का उत्तर देते हुए प्रो० मलकानी ने यह दिखाया है कि अध्यास एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान लेना है और इस रूप में अध्यास सभी दर्शनों में एक समान है । उनमें अन्तर तब उत्पन्न होता है जब भिन्न दो वस्तुओं के सम्बन्ध में भ्रम होता है या उनके तात्त्विक स्वरूप का प्रश्न उठाया जाता है । सांख्य में पुरुष और प्रकृति दो पृथक् तत्त्व हैं और अध्यास में इन दोनों में अभेद नहीं हो जाता है । केवल दोनों के स्वरूप के सम्बन्ध में अविवेक उत्पन्न हो जाता है । दो वस्तुएँ अध्यास में भी रहती हैं, केवल हम उनमें अन्तर नहीं कर पाते हैं ।[४३] अद्वैतवेदान्त के अनुसार अध्यास के दो पदों की तात्त्विक स्थिति भिन्न है । उनमें से एक अर्थात् 'मैं' पूर्णतः सत् है जबकि दूसरा अर्थात् 'यह' असत् है । 'यह' मात्र कल्पित है । किन्तु अज्ञान के कारण उसी को आत्मा मान लिया जाता है । भ्रम का विषय अनिर्वचनीय है । यही सांख्य और अद्वैतवेदान्त का अन्तर है । जहां तक दो पदों के अन्तर और उनके अध्यास का प्रश्न है, सभी अध्यास एक समान हैं और उनका आकार है 'अ ब है', 'यह सर्प है', 'मैं यह हूं' इत्यादि ।[४४]

---

४३. फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट में प्रो० बी०आर० मलकानी द्वारा प्रो० दयाकृष्ण का उत्तर, १९६६, पृ० ८२

४४. "The ontological status of the illusory object is said to be midway between a purely imaginary object which it really is and a real object which it never sublated. It is thus said to be intermediate between the real and the unreal and in this sense anirvacaniya. This is the only difference between Sāṁkhya and Advaita Vedānta. There is no difference whatsoever as far as the duality of the terms and the consequent confusion between them are concerned. All adhyās[illegible] the same form; 'A is B', 'this is snake', 'I am this' e[illegible]."
वही, पृ० ८२

अतः यह कहना नितान्त ही भ्रामक है कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार अध्यास का स्वरूप `मैं यह नहीं हूं ` होना चाहिए । हम शुद्ध `मैं` को प्रायः कोई न कोई विषय मान लेते हैं जबकि `मैं` विषय नहीं हो सकता। इसी भ्रम का खण्डन करने के लिए `नेति-नेति` की विधि अपनायी जाती है । इस विधि के पूर्ण हो जाने पर हमें इस सत्य की अनुभूति होती है कि आत्मा ही ब्रह्म है । यदि प्रो० दयाकृष्ण की व्याख्या ठीक है तो `मैं यह हूं ` के द्वारा ही अध्यास का निराकरण हो सकता है । किन्तु कोई भी अद्वैती इस प्रकार का निरर्थक प्रलाप नहीं करेगा ।

प्रो० मलकानी के मत में प्रो० दयाकृष्ण की भूल यह है कि वे दो पृथक् स्थितियों में अन्तर नहीं कर पाते हैं । `जगत् ब्रह्म है` एक बात है और `आत्मा ब्रह्म है` दूसरी बात है । `मैं यह हूं` नहीं कहा जा सकता जबकि `मैं ब्रह्म हूं ` महावाक्य है और पूर्णतः सत्य है । आत्मा और ब्रह्म में अभेद है परन्तु `मैं ` और `यह` में अभेद नहीं है ।

प्रो० एस० एस० राय ने भी प्रो० दयाकृष्ण के लेख का खण्डन किया है । उनके अनुसार दयाकृष्ण की व्याख्या प्रच्छन्न रूप से ही नहीं बल्कि स्पष्ट रूप से निरर्थक है[४५]। प्रो० दयाकृष्ण मानते हैं कि अद्वैत तत्त्वमीमांसा अभेदात्मक होने के कारण भ्रम का स्वरूप `मैं यह नहीं हूं ` होना चाहिए क्योंकि कोई भी वस्तु मुझसे भिन्न नहीं है । परन्तु शंकराचार्य ने `मैं यह हूं ` को भ्रम की अभिव्यक्ति माना है जबकि वास्तव में यह स्थिति

---

४५. 'This is not only a disguished nonsense but a patent nonsense.' प्रो० एस० एस० राय ने लेखक से व्यक्तिगत विचार-विमर्श में यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया ।

सांख्य दर्शन की है । प्रो० राय के मत में अद्वैतवेदान्त में ‘मैं यह नहीं हूं’ भ्रम का स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैतवेदान्त में ‘मैं’ का प्रयोग आत्मा के लिए हुआ है और ‘यह’ का प्रयोग जगत् के लिए । जगत् ब्रह्म का विवर्त है और ब्रह्म आत्मा ही है । इस प्रकार जगत् के निषेध के द्वारा ही ब्रह्म का स्वरूप जाना जा सकता है[४६] । ब्रह्म और विवर्त एक नहीं हो सकते हैं । कार्य और कारण में अभेद है किन्तु कारण और कार्य में अभेद नहीं है । दोनों पक्षों में श्रेणी का भेद है । अत: दोनों को अभिन्न मान लेना घटिया सर्वेश्वरवाद (shallow pantheism) है[४७] । ब्रह्म जगत् पर आधारित नहीं है जबकि जगत् ब्रह्म पर आधारित है । पुनश्च, ‘यह’ सत् नहीं है, ‘यह’ पारमार्थिक रूप में असत् और तार्किक रूप में अनिर्वचनीय है । किन्तु ब्रह्म न असत् है और न अनिर्वचनीय । अत: भ्रम की तार्किक अभिव्यक्ति ‘मैं यह हूं’ ‘ब्रह्म यह है’, ‘यह ब्रह्म है’ के रूप में ही हो सकती है । इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार ‘मैं यह हूं’ भ्रमात्मक है और ‘मैं यह नहीं हूं’ उसका संशोधन है । अत: दयाकृष्ण की व्याख्या जिसके अनुसार अद्वैत का अध्यास सांख्य पर आधारित है, पूर्णत: असंगत है ।

---

४६. 'It is wrong to insist that the Advaitic expression of erroneous apprehension should be expressed as ' I am not this' and not as 'I am this.' 'This' in the proposition is merely a Vivarta of Brahman. So Brahman has to be understood through a negation of this Vivarta.'
प्रो० एस० एस० राय से व्यक्तिगत विचार-विमर्श के सौजन्य से ।

४७. 'To identify them would be to take a somer sault into a shallow pantheism by him as lazy monism."
हेरिटेज आफ शंकर, एस० एस० राय, उदयन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६५, पृ० १०५

पुनश्च, बाह्यदृष्टि से अद्वैतवेदान्त और सांख्य दोनों में द्वैत है। किन्तु जहाँ सांख्य का द्वैत यथार्थ है, वहाँ अद्वैतवेदान्त का द्वैत केवल भ्रमात्मक है। सांख्य में पुरुष और प्रकृति दोनों स्वतंत्र रूप से सत् हैं जबकि शांकरवेदान्त में जगत् स्वतंत्र रूप से सत् नहीं है। अतः दोनों दर्शनों में "मैं यह हूं" की तार्किक स्थिति समान है किन्तु दोनों की तात्त्विक स्थिति पूर्णतया भिन्न है। यदि दोनों की तात्त्विक स्थिति भी समान होती तो दयाकृष्ण का मत ठीक होता। किन्तु दोनों की तत्त्वमीमांसा में अन्तर होने के कारण प्रो० दयाकृष्ण की व्याख्या त्रुटिपूर्ण एवं असंगत है।[५८]

७- प्रो० गणेश्वर मिश्र की अध्यास व्याख्या

प्रो० गणेश्वर मिश्र के अनुसार शंकराचार्य का अध्यास का सिद्धान्त एक तार्किक सिद्धान्त है, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है।[५९]

---

५८. 'If there would have been the sameness of ontology too we could be justified in saying that the Advaitic doctrine of Adhyasa has Sankhyan origins where as the logical form 'I am this' is the same, yet two different ontologies are intended and nothing could be more absurd than the fantastic hypothesis of Dayakrishna, if he has deliberately come to this conclusion. On the whole, the findings of Dayakrishna are untenable and repugnant to a student of Advaita Vedanta.'

प्रो० एस० एस० राय ने लेखक से व्यक्तिगत विचार-विमर्श में यह बताया।

५९. 'The doctrine of Adhyāsa is a logical doctrine and not a psychological one.'

इंडियन फिलासफिकल क्वार्टरली, अप्रैल १९७५, पृ० २२५

शंकराचार्य का उद्देश्य यह दिखाना है कि तार्किक उद्देश्य और तार्किक विधेय दो भिन्न प्रकार की कोटियां हैं जो एक दूसरे से पृथक् एवं विरुद्ध धर्मात्मक हैं । जब तर्कवाक्य में इन दोनों को संयुक्त कर दिया जाता है तो उससे तार्किक भ्रम उत्पन्न होता है । उदाहरण के लिए, 'अ ब है' 'यह रज्जु है' में उद्देश्य एक विशिष्ट वस्तु है और विधेय या तो विषय है या विषय का धर्म है । प्रत्येक तर्कवाक्य में एक विशिष्टता को किसी विषयात्मक या धर्मात्मक सामान्य के अन्तर्गत रखा जाता है । किन्तु उद्देश्यों एवं विधेयों में प्रकारात्मक अन्तर होने के कारण दोनों का सम्बन्ध सम्भव नहीं है ।

विशिष्ट (विषयी) जिसके लिए विषय का प्रयोग होता है, अपने आप में पूर्ण होता है जबकि सामान्य परतंत्र और अपूर्ण होता है । विषयी के सम्बन्ध में कभी भ्रम होता है किन्तु सामान्य के सम्बन्ध में भ्रम सदैव संभव है । जहां तक सामान्य का प्रश्न है कोई भी निर्णय असंशोधनीय नहीं है । किसी वस्तु को यह या वह समझने में सदैव भ्रमपूर्ण निर्णय संभव होता है किन्तु जिस विशेष के सम्बन्ध में निर्णय किया जाता है उसके विषय में भ्रम संभव नहीं है । इसीलिए विशेष सत्य होता है और सामान्य असत्य[४०]। 'यह गाय है' तर्कवाक्य में 'यह' सत्य है जबकि गाय होने में भ्रम संभव है । इन तर्कवाक्यों में विधेय का प्रयोग स्वतंत्र रूप से संभव नहीं है जबकि उद्देश्य का स्वतंत्ररूप से प्रयोग सम्भव है । इसी प्रकार जब किसी वस्तु को गाय कहा

---

४०. '...But the particular which is being judged is never infected by this possibility at all. In this respect, the particular is real (Satya) and for this very reason the universal is the opposite of it namely unreal (Anrta).'
वही, पृ० २२५-२६

जाता है तो हो सकता है कि वह नाम न हो । इसीलिए प्रो० मिश्र सामान्य को 'स्वतंत्र पद' कहते हैं । 'दोनों में इस प्रकारात्मक भेद के कारण शंकराचार्य मानते हैं कि किसी निर्णय या तर्कवाक्य में इन्हें सम्बन्धित करना तार्किक भ्रम है (मिथ्येति भवितुं युक्तम्) । यहां जिस मिथ्यात्व का संकेत किया गया है, वह तार्किक है, तत्त्वात्मक नहीं है । सामान्य उसी प्रकार का नहीं है जिस प्रकार का विशेष है । इसलिए तर्क वाक्यात्मक सन्दर्भ में उनका प्रयोग असम्बन्धात्मक है । इसीलिए शंकराचार्य समवाय की सत्ता का खण्डन करते हैं ।[५१] यदि दो वस्तुएं पृथक् हैं तो उनमें सम्बन्ध नहीं हो सकता और यदि वे पृथक् नहीं हैं तो उन्हें सम्बन्धित करना निरर्थक है । न्याय निर्णयों में समवाय का सम्बन्ध स्वीकार करता है किन्तु शंकराचार्य इसे अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनके अनुसार सभी निर्णय भ्रामक हैं ।[५२]

पुनश्च, प्रो० मिश्र के अनुसार डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त ने तर्कवाक्यों के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की सही व्याख्या नहीं की है । डा० दत्त वेदान्त में सभी तर्कवाक्यों को सम्बन्धात्मक (संसर्गविगाहि) मानते हैं । परन्तु वास्तव में, संसर्गविगाहि मानना सम्बन्धात्मक मानना नहीं है । संसर्ग का अर्थ दो वस्तुओं को एक साथ लाना है और दो वस्तुओं को साथ लाना उन्हें सम्बन्धित दिखाना नहीं है । इसका अर्थ है, दो असम्बन्धित वस्तुओं को साथ रखना । वेदान्तियों के अनुसार 'सभी तर्क वाक्य असम्बन्धात्मक हैं

---

५१. वही, पृ० २२५-२६

५२. 'Nyāya admits the idea of inseparable relation in judgmental symbolism and Śaṁkara rejects the idea of inseparable relation because he has reasons to find fault with judgmental symbolism.'
वही, पृ० २२६-२७ ।

और प्रत्येक तर्कवाक्य का रूप उद्देश्य-विधेय प्रकार का है[५३]। 'प्रत्येक निर्णय में दो विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्व, जिनमें एक सत्य है और एक असत्य है, को असम्बन्धात्मक प्रकार से एक साथ रख दिया जाता है (सत्यानृते मिथुनीकृत्य)'[५४]।

सभी तर्कवाक्य चाहे वे असत्य हों या व्यावहारिक स्तर पर सत्य हों, तार्किक रूप से भ्रामक हैं और शंकराचार्य उस भ्रम को अध्यास कहते हैं[५५]। जो निर्णय व्यावहारिक वस्तु का वर्णन करता है वह सत्य माना जाता है और जो व्यावहारिक वस्तु का वर्णन नहीं करता है, वह असत्य माना जाता है। किन्तु तार्किक रूप से दोनों ही असत्य हैं। अतः अध्यास का अर्थ एक वस्तु को दूसरी वस्तु पर आरोपित करना नहीं है। साधारणतः लोग रज्जु-सर्प के उदाहरण को अध्यास-सिद्धान्त मान लेते हैं किन्तु शंकराचार्य और उनके समकालीन दार्शनिकों ने इस उदाहरण को अध्यास के अर्थ में नहीं लिया है। शंकराचार्य के अनुसार यह उदाहरण केवल तार्किक भ्रम को समझाने के उदाहरण मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसका प्रयोग केवल तार्किक

---

५३. 'For the Vedāntins, not all propositions are relational but none is. Every proposition is for the Vedāntin of the subject-predicate type.'
वही, पृ० २२६-२७

५४- 'Every judgment contains two elements of opposite character, an existent and a non-existent, a real and non-real coupled together (Satyānruṭe Mithunī Krutya) in a non-relational manner.'
वही, पृ० २२७-२८

५५. 'All propositions including those which are counted as true and those which are counted as false at the factual level are based on a logical error which Śaṅkara names as Adhyāsa.'
वही, पृ० २२८-२९ ।

दृष्टिकोण को समझाने के लिए किया गया है, किसी तथ्य की व्याख्या के लिए नहीं।[५६] इसके द्वारा केवल यह दिखाया गया है कि किस प्रकार किसी विधेय का गलत प्रयोग किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जभी लोग उस विधेय का प्रयोग करते हैं तो वही भ्रम में करते हैं। क्योंकि शंकराचार्य कहते हैं कि उद्देश्य और विधेय उसी प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश। और इन दोनों में कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः शंकराचार्य का विश्लेषण केवल तार्किक है तथ्यात्मक या अनुभवात्मक नहीं। शंकराचार्य का उद्देश्य केवल भाषीय विश्लेषण करना था। 'शंकराचार्य का अध्यास का सिद्धान्त भाषा का दर्शन है, न कि जिस जगत् में हम रहते हैं और विचरण करते हैं उसे भ्रमात्मक सिद्ध करना।'[५७] यह सिद्धान्त परिकल्पनात्मक तत्त्व मीमांसा का सिद्धान्त है, वर्णनात्मक तत्त्व-मीमांसा का सिद्धान्त नहीं।

प्रो० मिश्र शंकराचार्य से निम्न बातों में सहमत हैं, विशेष और सामान्य में प्रकारात्मक अन्तर है, दोनों स्वभावतः एक दूसरे के विरोधी हैं, विशेष अपने आप में पूर्ण है जबकि सामान्य नहीं, सामान्य

---

५६. '.....Since a man who mistakes a shell for a peace of silver is in actual case of illusion, traditional interpreters have understood the doctrine of Adhyāsa as a doctrine of illusion. But Śaṅkara and his contemporaries have used these examples as illustrative of a logical point and nothing else.'

वही, पृ० २२८-२९

५७. '.....Śaṅkara's doctrine of Adhyāsa preaches a philosophy of language and not on account of the illusory character of the world in which we live, move and have our being.'

वही, पृ० २२८-२९

विशेष पर निर्भर है जबकि विशेष सामान्य पर नहीं।[५८] अद्वैतवेदान्त की भाषा में सामान्य का आधार विशेष है और वह विशेष में ही स्थित हो सकता है। 'यह रज्जु है', 'यह सर्प है', दोनों में सर्प और रज्जु का आधार 'यह' है।

पुनश्च, प्रो० मिश्र का मत है कि शंकराचार्य के अनुसार साधारण नाम तार्किक नाम नहीं है। उनके अनुसार यह, वह, मैं, ही तार्किक नाम हैं। इनका प्रयोग कभी भी भ्रामक रूप से नहीं हो सकता है। देवदत्त देवदत्त है या नहीं, इस विषय में भ्रम हो सकता है किन्तु 'यह', 'वह', या 'मैं' के सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं हो सकता है। किन्तु प्रो० मिश्र शंकराचार्य के इस मत से सहमत नहीं हैं कि सभी निर्णय भ्रामक होते हैं। कुछ सन्दर्भों में विधेयों का अनुचित प्रयोग यह सिद्ध नहीं करता है कि किसी भी उद्देश्य के लिए किसी भी विधेय का प्रयोग अनुचित है। 'विधेय के सम्बन्ध में शंकराचार्य जिस भ्रम की ओर संकेत करते हैं, वह स्वयं भ्रामक है।'[५९] प्रो० मिश्र यह तो मानते हैं कि उद्देश्य और विधेय की पृथक् कोटियाँ हैं किन्तु वे यह नहीं मानते हैं कि सभी निर्णय तार्किक रूप से भ्रामक हैं।[६०] अब उद्देश्य और विधेय में अन्तर होते हुए भी यह अन्तर इस प्रकार का नहीं है कि उन्हें

---

५८. वही, पृ० २३०-३२

५९. '....The logical error which Śaṁkara points out in the case of predication is itself erroneous.'

वही, पृ० २३४

६०. 'But since we agree with his distinction between subject and predicate but disagree with valid reasons with is conclusion that all judgments are logically erroneous . . . . . .'

वही, पृ० २३५

[illegible]

निर्णयों में सम्बन्धित ही न किया जा सके । जब निर्णयों में उद्देश्य और विधेय का प्रयोग होता है तभी हम उद्देश्य और विधेय के स्वरूप को समझ सकते हैं । यहाँ भाषाओं से बाहर न तो वे स्वतंत्र हैं और न परतन्त्र।[६१] इसी प्रकार उनका मत है कि यद्यपि 'यह', 'वह' और 'मैं' का गलत प्रयोग नहीं हो सकता फिर भी इस आधार पर उनकी स्थिति विशिष्ट नहीं हो जाती। इनका गलत प्रयोग इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि ये भाषा के अंग नहीं हैं, केवल शारीरिक संकेत के स्थानापन्न (substitute) हैं ।

८- प्रो० एस० के० चट्टोपाध्याय की प्रति व्याख्या

प्रो० एस० के० चट्टोपाध्याय ने 'Śaṃkara's Concept of Adhyasa' में प्रो० गणेश्वर मिश्र की अध्यास व्याख्या का खण्डन किया है । उनके अनुसार प्रत्येक तर्कवाक्य में एक विशेष को किसी सामान्य के अन्तर्गत रखने की व्याख्या उचित नहीं है । यदि इसे स्वीकार कर लिया जाता है तो प्रत्येक निर्णय को विशेष (singular) मानना पड़ेगा । परन्तु सभी वर्णनात्मक कथन विशेष नहीं माने जा सकते हैं।[६२] इसी प्रकार यदि तर्कवाक्यों में उद्देश्य और विधेय को संयुक्त नहीं किया जा सकता है तो इससे यह नहीं सिद्ध होता कि सभी भाषीय अभिव्यक्तियां भ्रामक हैं, जैसाकि प्रो० मिश्र सिद्ध करना चाहते हैं।[६३]

---

६१. वही, पृ० २२५

६२. इंडियन फिलासाफिकल क्वार्टरली, जुलाई १९७६, पृ० ४७५-७७

६३. वही, पृ० ४७७-७८

प्रो० मिश्र ने मिथुनीकरण (Coupling) का बार-बार प्रयोग किया है। चट्टोपाध्याय के अनुसार यह शब्द शंकराचार्य के मिथुनीकृत्य का प्रो० मिश्र द्वारा अंग्रेजी अनुवाद है। किन्तु वह मिथुनीकृत का ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझ सके और इसीलिए उन्होंने डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त की भी गलत आलोचना की है। यदि अध्यास का अर्थ दो विरोधी पदों का एक वाक्य में मिथुनीकरण है, तो यह मिथुनीकरण अनुचित सम्बन्ध व्यक्त करता है। इसका कार्य दो असम्बन्धित पदों को सम्बन्धित करना है। अतः इसका उद्देश्य असम्बन्ध व्यक्त करना नहीं हो सकता है।[६४] प्रत्येक कथन को असम्बन्धात्मक मिथुनीकरण मानना बहुत बड़ी भूल है और इससे प्रो० मिश्र का उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होता है।[६५]

प्रो० मिश्र सामान्य को स्वतंत्र कहते हैं क्योंकि वह किसी एक विशेष से सम्बन्धित नहीं होता है। परन्तु वे चट्टोपाध्याय के अनुसार इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदान्त सामान्य को स्वतंत्र मानता है।[६६] सामान्य की सत्ता विशेष से स्वतंत्र नहीं हो सकती है। प्रो० चट्टोपाध्याय यह भी दिखाते हैं कि किसी भी भारतीयदर्शन में कभी तथ्यात्मक कथनों को असत्य नहीं माना गया है।[६७]

६४, "If the logical 'adhyāsa' of his meaning is to be a misuse of language, if it is to be anything illegitimate, the coupling of the categorially different in the texture of any descriptive statement should mean an illegitimate 'relation.'
वही, पृ० ५७६-८२

६५- वही, पृ० ५७६-८२

६६, ".....But that they are 'free floating' is not the view of any school of the Vedānta."
वही, पृ० ५८१-८२

६७, 'That all factual propositions are theoretically corrigible has not been upheld by any school of Indian Philosophy- - - - -
वही, पृ० ५८१-८२

पुनश्च, प्रो० चट्टोपाध्याय के अनुसार अध्यास की व्याख्या तार्किक भ्रम के रूप में करना शांकरवेदान्त तथा सम्पूर्ण भारतीयदर्शन के लिए पूर्णतः अप्रासंगिक है।[६८] इसके लिए शंकराचार्य के अध्यासभाष्य में कोई भी प्रमाण नहीं है। वास्तव में, अध्यास की यह व्याख्या स्वयं अध्यास है।[६९] अध्यास का विषय आत्मा को अनात्मा मानने और अनात्मा को आत्मा मानने तथा उनके गुणों का प्रक्षेपण करने की व्याख्या है। वास्तव में, अध्यास अज्ञान है। इस अज्ञान से मुक्ति ही दर्शन का उद्देश्य है। ब्रह्म-साक्षात्कार तभी सम्भव है। अध्यास तार्किक मिथुनीकरण नहीं बल्कि अध्यात्मिक अज्ञान है। शंकराचार्य के अनुसार अध्यास ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा एक वस्तु अपने से भिन्न रूप में प्रतीत होती है और इससे ऐसी वस्तु ग्रहण किया जाता है जो सत् नहीं है। जब किसी वस्तु के दो विरोधी अंश होते हैं तब इस विरोध को उनमें से एक को मिथ्या मानकर दूर किया जाता है। अध्यास में अनिर्वचनीयता निहित होती है। शुक्ति रजत नहीं हो जाती है। यह केवल अनुभव में रजत प्रतीत होती है। अतः अध्यास अनुभव का भ्रम है और इसका अतार्किक स्वरूप

---

६८. 'The greatest difficulty of the linguistic thesis on 'adhyāsa' as an illegitimate judgmental or propositional relation, or as it has been otherwise expressed, illegitimate 'Coupling' of a logical subject a particular and a logical predicate a universal, is its Utter irrelevance for Śaṁkara Vedānta in particular, as for Indian Philosophy generally.'

वही, पृ० ४८२

६९. '.....this new adhyāsa theory is itself an instance of 'adhyāsa' in the real Śaṁkarite sense....'

वही, पृ० ४८२

इस बात में निहित है कि वस्तु जो नहीं हो सकती, अनुभव में वही प्रतीत होती है[70]।

पुनश्च, प्रो० चट्टोपाध्याय के अनुसार शंकराचार्य ने विषय और विषयी का प्रयोग उद्देश्य और विधेय के लिए नहीं किया है और न ही उन्होंने अध्यास को तर्कवाक्यात्मक सम्बन्ध माना है[71]। अध्यासभाष्य में उनका उद्देश्य न विधेय का सिद्धान्त प्रस्तुत करना था और न भाषा की आलोचना। भ्रम के सामान्य सिद्धान्त में भी उनकी रुचि नहीं थी। उनका उद्देश्य केवल आत्म को अनात्म रूप में अनुभव करने की व्याख्या करना था। अध्यास का अर्थ एक वस्तु को उससे भिन्न दूसरी वस्तु समझ लेना है जो वह कभी भी नहीं हो सकती है[72]। *

---

७०. 'So an 'adhyāsa is an error of experience and its illogicality consists in this that in it a thing turns out in experience what it cannot be materially and in fact.' वही, पृ० ६८९-६९१

७१. '......Śaṅkara by his viṣaya and viṣayi did not understand the the subject and predicate of any linguistic expression. He did not also take 'adhyāsa' to stand for a propositional relation of any description.' वही, पृ० ७०१-२

७२. '.....He was singularly interested in the mistaken sense of identity and the illicit superimposition of the self and the not-self———. And this he named as 'adhyāsa' and he took it to mean mistaking a thing for what it is not and what it can never be.' वही, पृ० ७०१-२

* प्रो० एस० के० चट्टोपाध्याय के विचारों को विस्तार से देखने के लिए देखिए उनका लेख 'Śaṅkara's Concept of Adhyāsa' - फिलासफिकल क्वार्टर्ली, जुलाई १९७६

प्रो० मिश्र और प्रो० चट्टोपाध्याय के विवाद के अन्तराल में जाने से इतना सिद्ध होता है कि दोनों अध्यास-सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में मानते हैं और उसको तर्कशास्त्र की दृष्टि से सत्य सिद्धान्त समझते हैं। इतनी सम्मति अद्वैत की स्थापना के लिए पर्याप्त है। फिर, प्रो० मिश्र भाषा-दर्शन के अनुसार अध्यास की जो नयी व्याख्या करते हैं, उस पर प्रो० चट्टोपाध्याय ने परम्परागत मत के आधार पर आपत्तियाँ की है। लगता है कि तर्कशास्त्र के ऊपर इन दोनों में मतभेद है। परन्तु दोनों ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'यह', 'वह' और 'मैं' तार्किक उद्देश्य हैं और इनके अतिरिक्त अन्य उद्देश्य जो तथाकथित तर्कवाक्यों में उपलब्ध हैं उन्हें प्रो० मिश्र तार्किक उद्देश्य नहीं मानते हैं और प्रो० चट्टोपाध्याय उन्हें भी तार्किक उद्देश्य मानते हैं। इस मतभेद के कारण दोनों ने तर्कवाक्य की भिन्न-भिन्न कल्पनायें की हैं। इन कल्पनाओं से दोनों का मतभेद सिद्ध होता है। इस मतभेद से अध्यास-सिद्धान्त की नयी और परम्परागत जो व्याख्यायें उभरी हैं उनसे मायावाद गलत नहीं हुआ है अपितु और भी सबल ढंग से स्थापित हुआ है। प्रो० मिश्र का मत इस प्रकार एकदेशी मत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और प्रो० चट्टोपाध्याय का मत सर्वदेशी मत के रूप में।

--o--

दशम अध्याय

-0-

निष्कर्ष

दशम अध्याय

-0-

निष्कर्ष

१-मायावाद बनाम लीलावाद

जो लोग मायावाद का खण्डन करते हैं और उसके स्थान पर लीलावाद को प्रस्तावित करते हैं, जैसे रामानुजाचार्य के अनुयायी और श्री अरविन्द, वे वास्तव में जगत् को वास्तविक नहीं मानते हैं । लीलावाद जगत् का वास्तववाद नहीं है । यह मायावाद पर ही आधारित है । उसमें कोई तात्विक अन्तर नहीं है[1]। अनेकविध सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोषों से ग्रस्त होते हुए भी यदि लीलावाद को विवर्तवाद के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाय, जैसा कि अद्वैतवेदान्त के मनीषियों ने किया है, तो उसका प्राधान्य न रहने के कारण लीलावाद के सभी दोष नगण्य से हो जाते हैं[2]। व्यावहारिक भूमिका पर आरूढ़ होने पर जीव, जगत् एवं ईश्वर में भेद-कल्पना द्वारा जगत् ईश्वर की लीलामात्र है, इस प्रकार की व्यवस्था के लिए वेदान्त-दर्शन में पर्याप्त अवकाश है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि लीलावाद पारमार्थिक दृष्टि से भी सत्य है[3]।

२-वैतंडिकों द्वारा मायावाद का खण्डन

जो लोग मायावाद का खण्डन तो करते हैं किन्तु उसके

---

१. गांधी का दर्शन, संगमलाल पाण्डेय, गर्गब्रदर्स, प्रयाग, पृ० २११

२. दार्शनिक तृतीयवर्ष, तृतीय एवं चतुर्थ अंक में श्री रामनाथवार्षिंगले का लेख "मायावाद तथा लीलावाद"। पृ० ३६

३. वही, पृ० २६

साथ ही वे सभी अन्य सिद्धान्तों का भी खण्डन करते हैं उनका खण्डन केवल खण्डन के लिए है और उसका कोई दार्शनिक महत्व नहीं है । साधु शान्तिनाथ का खण्डन ऐसा ही है ।

३-मायावाद बनाम प्रकृतिवाद

प्रकृतिवादियों ने मायावाद का खण्डन करके प्रकृतिवाद अथवा या भौतिकवाद को प्रस्तावित किया है । वास्तव में यही लोग मायावाद के असली निराकर्ता हैं । स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी तथा भौतिकवादी और यथार्थवादी दार्शनिकगण इस दृष्टि से मायावाद का खण्डन करते हैं । किन्तु इनमें भी मूल प्रकृति के बारे में बहुत मतभेद है । कोई प्रकृतिवादी है तो कोई अणुवादी है, कोई भौतिकवादी है तो कोई चेतन दोनों से भिन्न मूलतत्व को प्रस्तावित करता है, कोई परिणामवादी है तो कोई वैपुल्यवादी या अनेकान्तवादी है । अत: यदि इन सभी यथार्थवादियों के सामान्य सिद्धान्त की पड़ताल की जाय तो ज्ञात होगा कि जगत् का मूलतत्व सम्यक्रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता । इस प्रकार प्रच्छन्नरूप से विलक्षणत्व का ही पोषण मायावाद के यथार्थवादी खण्डन कर्ता करते हैं ।

४-मायावाद और मूल्यवाद

मायावाद का मूल्यवादी अर्थ करके अद्वैतवेदान्तियों ने आधुनिक युग में एक सराहनीय कार्य किया है । मूल्यवाद की दृष्टि से माया निम्नतम मूल्य है और ब्रह्म उच्चतर मूल्य है । मायावाद व्यवहारवाद है और ब्रह्मवाद परमार्थवाद है । व्यवहारवाद साधन है और परमार्थवाद साध्य ।

५- माया और अविद्या

अनेक विश्वविद्यालयीन दार्शनिकों ने माया को अनिर्वचनीय

विषय के रूप में लिया है । वे उसको माया न कहकर, अविद्या कहते हैं । यदि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है तो निश्चय ही माया जो ब्रह्म से भिन्न है, अज्ञानस्वरूप होगी । इसलिए माया को अविद्या से अभिन्न करना सर्वथा युक्तियुक्त है । पुनश्च, अविद्या के कारण जो अध्यास होता है, उसको प्रो० गणेश्वर मिश्र ने भाषागत अविवेक या भ्रम (Confusion) अथवा अस्पष्टता कहा है । यद्यपि प्रो० एस० के० चट्टोपाध्याय ने उनके मत का परम्परानुसारी खण्डन किया है तथापि भाषागत भ्रम भी अविद्या के अन्तर्गत माने जा सकते हैं और इसलिए प्रो० मिश्र का मत मायावाद के विरुद्ध नहीं है ।

६-माया के परम्परागत लक्षण

महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने परम्परागत अद्वैतवेदान्त के आधार पर माया के लक्षणों का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है । माया की जिन पांच परिभाषाओं का विवेचन मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में किया है[६] उन्हें अनन्तकृष्ण शास्त्री तर्कशुद्ध और युक्तियुक्त पाते हैं ।

इस प्रकार मायावाद आज भी दार्शनिक जगत् में पूर्ववत् बना हुआ है और उसका कोई सही विकल्प अभी तक नहीं मिला है ।

-०-

---

६. इस शोध-प्रबन्ध का पृष्ठ ६-७ देखिए

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

(ख) हिन्दी-ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकायें आदि

अखण्डानन्द	शंकरोत्तर वेदान्त में मिथ्यात्व का निरूपण	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर	१९७३
उपाध्याय, गंगा प्रसाद	अद्वैतवाद	कलाप्रेस, प्रयाग	१९५७
पाण्डेय, संगम लाल	भारतीय दर्शन की कहानी	रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद	१९५४
पाण्डेय, संगम लाल	भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण	सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद	१९७६
पाण्डेय, संगम लाल	गांधी का दर्शन	दर्श प्रवर्ग, प्रयाग	१९७८
भट्टाचार्य, जयचन्द्र	श्री अरविन्द दर्शन	जागरूक प्रकाशन, वाराणसी	१९७३
मिश्र, ज्वाला प्रसाद	दयानन्द तिमिर भास्कर	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई	१९३०
मूर्ति, के० सच्चिदानन्द	समकालीन भारतीय दर्शन	अखिल भारतीय दर्शन परिषद्	१९६२
शर्मा, राममूर्ति	शंकराचार्य	साहित्यभंडार, मेरठ	१९६४
शर्मा, राममूर्ति	अद्वैतवेदान्त	नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली	१९७२
शर्मा, रामनाथ	अरविन्द दर्शन का समाज दर्शन	ओरियण्टल पब्लिशिंग हाउस, कानपुर	१९६५

शास्त्री, उदयवीर	ब्रह्मसूत्र विद्योदय भाष्यम्	विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद	१९६६
शेखावत, महेन्द्र	आधुनिक चिंतन में वेदान्त	मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल	१९७१
साधु निश्चलदास	वृत्तिप्रभाकर	खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई	१९५०
साधु निश्चलदास	विचार सागर	श्याम काशी प्रेस, मथुरा	
साधु शान्ति नाथ	प्राच्य दर्शन समीक्षा	ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना	१९४०
सरस्वती, स्वामी दयानन्द	सत्यार्थ प्रकाश	वैदिक पुस्तकालय, दयानन्दाश्रम, अजमेर	१९७१
कल्याण, वेदान्तांक		गीताप्रेस, गोरखपुर	१९३६
दार्शनिक		अप्रैल	१९५६
,,		अक्टूबर	१९५६
,,		जनवरी	१९५७
संदर्शन			१९७६

(ख) अनूदित-ग्रन्थ

डायसन, पाल	वेदान्त-दर्शन अनु० रामलाल पाण्डेय	उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ	१९७१

दासगुप्त, सुरेन्द्र नाथ	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग -३ अनु० ए०यू० वसावड़ा	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर	१९७४
नृसिंहाश्रम स्वामी	भेदधिक्कार (A critique of Difference) अनु० एस०एस० सूर्यनारायणशास्त्री टी० एम० पी० महादेवन	यूनिवर्सिटी आफ मद्रास	१९६५
रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय	उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण अनु० रामानन्द तिवारी	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर	१९७१

(ग) संस्कृत-ग्रन्थ :

ताताचार्य, वै० ति०	विशिष्टाद्वैतसिद्धिः	पण्डितराज वै०ति० ताताचार्य, तिरुपति(आन्ध्रप्रदेश)	१९६५
ताताचार्य, वै० ति०	शरीरसिद्धिः	उद्यान पत्रिका तिरुपति आन्ध्रप्रदेश	१९६६
भारतीतीर्थविद्यारण्य	पंचदशी	निर्णयसागर, बम्बई	१९४९
वीरराघवाचार्य, उत्तमूर	परमार्थभूषणम्	उभयवेदान्तग्रन्थ माला मद्रास	१९५६
वेदान्त देशिक	शतदूषणी	वी० डी० रामास्वामी [illegible], मद्रास	१९७४
शास्त्री, म० म० अनन्तकृष्ण	शतभूषणी	मुरानी गांव, पालघाट, मद्रास	१९५६
शास्त्री, म०म० अनन्तकृष्ण	अद्वैततत्त्वशुद्धिः	भारती विजय प्रेस, मद्रास	१९५८

शंकराचार्य	श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य	गीताप्रेस,गोरखपुर	
,,	छांदोग्योपनिषद्भाष्य	गीताप्रेस,गोरखपुर	
,,	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य	,, ,,	
,,	शारीरकभाष्य (सत्यानन्दीदीपिका)	गोविन्द मठ, वाराणसी	

(घ) आंग्ल-ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकायें आदि

Banerjee,N.V.	Concerning Human Understanding	George Allen & Unwin,London	1958
Chaudhuri,Anil Kumar Roy	The Doctrine of Māyā	Dasgupta & Co. Calcutta	1950
Chakraborty,Niron Baran	The Advaita concept Of Falsity	Sanskrit College Calcutta	1967
Chari,S.M.Srinivas	Advaita And Visistadvaita	Asia Publishing House, Newyork	1961
Chattopadhyaya, Devi Prasad	Indian Philosophy	People's Publishing House, Delhi	1964
Chatterji,Margaret	Contemporary Indian Philosophy	London	1974
Chatterjee,Satischandra And Dhirendra Mohan Datta	Introduction to Indian Philosophy	University of Calcutta	1960
Coppler,carl	Sanskrit English Dictionary	London	1890
Dasgupta,Surendra Nath	A History of Indian Philosophy Vol.I & II	The Cambridge University Press	1951

Das, Rashvihary	Introduction to Shankara	Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta	1968
Das Saroj Kumar	Study of the Vedanta	Bhawanipur, Calcutta	1931
Devanandan, P.D.	The concept of Māyā	Y.M.C.A. Publishing House, Calcutta	1954
Devaraj, N.K.	Indian Philosophy Today	The Macmillan Company of India, Delhi	1975
Devaraj, N.K.	Introduction To Sankara's Theory knowledge	Motilal Banarasidass, Delhi	1972
Ghate, V.S.	The Vedānta	The Bhandarkar oriental Research Institute, Poona	1960
Hiriyanna, M.	Outlines of Indian Philosophy	George Allen & Unwin, London	1951
Kirtikar, V.J	Studies In Vedānta	D.B. Taraporevala & Sons, Bombay	1924
Mahadevan, T.M.P.	The Philosophy of Advaita	Ganesh & Co. Madras	1969
Maitra, S.K.	An Introduction to the Philosophy of Sri Aurobindo	Banaras Hindu University	1945

Malkani, G.R., R.Das T.R.V.Murti	Ajñāna	Luzac & Co. London	1933
Malkani, G.R.,	Vedānta Epistemology	Amalner	1953
Mishra, Umesh	History of Indian Philosophy Vol.I	Tirabhukti Publications, Allahabad	1957
Muir head, S. Radhakrishnan	Contemporary Indian Philosophy	London,	1952
Mukerji, A.C.	The Nature of Self	Indian Press, Allahabad	1943
Murty, K.Satchidananda	Revelation And Reason In Advaita Vedānta	Motilal Banarasidas, Delhi	1974
Navalakha, N.S.	S'ankara's Brahmavada	Kitab Ghar, Kanpur	1964
Pandey, S.L.	Pre. S'aṁkara Advaita Philosophy	Darshan Peeth Allahabad	1974
Radhakrishnan, S.	Indian Philosophy Vol.II	George Allen & Unwin, London	1948
Radhakrishnan, S.	The Vedānta According To S'aṁkara And Rāmānuja	George Allen & Unwin, London	
Ranade, R.D	Vedanta Philosophy	Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay	1970
Reyna Ruth	The Concept of Māyā	Asia Publishing House	1962
Roy, S.S.	Heritage of S'aṁkara	Udayana Publications, Allahabad	1965
Sadhu, Shantinatha	The Critical Examination of the Philosophy of Religion	Motilal Manichchand, Amalner	1938

Sharma, C.D.	Indian Philosophy	Nandkishore & Brothers Banaras	1952
Shastri, Kokileshwar	An Introduction To Advaita Philosophy	University of Calcutta	1925
Shastri, Prabhu Dutta	The Doctrine of Māyā In The Philosophy of Vedānta	Luzac & Co, London	1911
Shastri, Vedanta Subbiah	Is The World An Illusion According To Shankara ?	Prakash Printers Bangalore	1976
Singh, Ram Pratap	The Vedānta of Śankara Vol.I	Bharat Publishing House, Jaipur	1949
Singh, Satya Vrata	Sant Vedānta Deśika	Chowkhamba Sanskrit Series	1958
Sri Aurobindo	The Life Divine 2Vols	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry	1973
Sri Aurobindo	Essays on The Gita	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry	1970
Srinivasachariar, P.N.	Philosophy of Viśiṣṭādvaita	Adyar library, Adyar	1943
Thibaut, George	The Vedānta Sūtra 2 Vols	Oxford University Press	1890
Urquhart, W.S.	Vedānta And Modern Tghought	Oxford University Press	1928

Upadhyaya, G.P.	Philosophy of Dayananda	Ganga-Gyan-Mandir, Allahabad	1955
Wood Ernest	Vedanta Dictionary	Philosophical Library, Newyork	1964
The Philosophical Quarterly			1942
" " "			1943
" " "			1950-51
" " "			1960
Indian Philosophical Quarterly			1975
" " "			1976
Philosophy East And West			1965
" " "			1966